योग सिद्धान्तों और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

वर्ष 33 अक्टूबर 2000 अंक 7

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन

संवाई (आगरा)-283 202

SIDDHYOG
MONTHLY

संस्थापक :
योग-योगेश्वर अनन्त श्री
चन्द्रमोहन जी महाराज

❒

सम्पादक :
आचार्य ब्र० दासलाल शर्मा

❒

संयुक्त सम्पादक :
डा० विजय सिंह

❒

प्रबन्ध सम्पादक :
ब्र० राजेशचन्द्र शर्मा
चन्द्रशेखर 'दिव्य'
आचार्य चन्द्रहास शर्मा
राजेश कुमार श्रीवास्तव
विनोद कुमार शर्मा

एक प्रति	रु०	8-00
वार्षिक शुल्क	रु०	75-00
द्विवार्षिक	रु०	140-00
आजीवन	रु०	750-00

इस अंक में

❒ स्वस्त्ययन 1
❒ अमृत कण 2
❒ विशेष लेख
अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज... 3
❒ सद्गुरु तत्व रूप तुम स्वामी !
चरण चञ्चरीक 'दिव्य' 10
❒ संपादकीय 11
❒ ब्रह्मचर्य और योग
ओ३म विश्वात्मा 14
❒ मेरे लीलाधारी प्रभु
भवनेन्द्र झा 18
❒ आत्म-विज्ञान
महात्मा श्रीतैलंग स्वामी 19
❒ हे गुरुदेव ! तुम्हें कोटिश ! नमन
राजेश कुमार श्रीवास्तव 22
❒ योग शब्द
डा० स्वामी केशवाचार्य 30
❒ गुरुभक्ति से ब्रह्मज्ञान 35
❒ स्वास्थ्य चर्चा 37

❒ ❒ ❒

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, संवाई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष 33 अंक 7	ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्, मर्त्यो मृत्योर्मूख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः। तत्प्राप्त्यर्थान् बहुतर विषदान् योगशास्त्रोपदेशान्, कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।	अक्टूबर 2000

स्वस्त्ययन

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु।
सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु।
मा विद्विसावहै।
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

भावार्थ

हे परमात्मन्! आप हम गुरु-शिष्य दोनों की साथ-साथ सब प्रकार से रक्षा करें, हम दोनों का आप साथ-साथ समुचित रूप से पालन-पोषण करें, हम दोनों साथ-साथ सब प्रकार से बल प्राप्त करें, हम दोनों की अध्ययन की हुई विद्या तेजस्विनी हो– हम कहीं किसी से विद्या में परास्त न हों और हम दोनों जीवनभर परस्पर स्नेह-सूत्र से बँधे रहें, हमारे अन्दर परस्पर कभी द्वेष न हों। हम दोनों के तीनों तापों की निवृत्ति हो!

अमृत कण

श्रीसद्गुरवे नमः

शरीरं सुरूपं तथा वा कलत्रं यशश्चारु चित्रं धनं मेरुतुल्यम्।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥१॥
कलत्रं धनं पुत्रपौत्रादि सर्वं गृहं बान्धवाः सर्वमेतद्धि जातम्।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥२॥
षडंगादिवेदो मुखे शास्त्रविद्या कवित्वादि गद्यं सुपद्यं करोति।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥३॥
विदेशेषु मान्यः स्वदेशेषु धन्यः सदाचारवृत्तेषु भक्तो न चान्यः।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥४॥
क्षमामण्डले भूपभूपालवृन्दैः सदा सेवितं यस्य पादारविन्दम्।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥५॥
यशो मे गतं दिक्षु दानप्रतापाज्जगद्वस्तु सर्वं करे मत्प्रसादात्।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥६॥
न भोगे न योगे न वा वाजिराजौ न कान्तामुखे नैव वित्तेषु चित्तम्।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥७॥
अरण्ये न वा स्वस्य गेहे न कार्ये न देहे मनो वर्तते मे त्वनर्घ्ये।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥८॥
अनर्घ्याणि रत्नानि भुक्तानि सम्यक् समालिंगिता कामिनी यामिनीषु।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥९॥
गुरोरष्टकं यः पठेत् पुण्यदेही यतिर्भूपतिर्ब्रह्मचारी च गेही।
लभेद्वाञ्छितार्थं पदं ब्रह्मसंज्ञं गुरोरुक्तवाक्ये मनो यस्य लग्नम् ॥१०॥

भावार्थ–श्रीसद्गुरु को नमस्कार है। आचार्य शंकर कहते हैं कि यदि शरीर सुन्दर, स्त्री भी सुन्दरी, अद्भुत विशद यश और सुमेरुपर्वत के समान विपुल धन प्राप्त है, पर मन श्रीसद्गुरु के चरणकमल में नहीं लगा तो उससे क्या लाभ ? जिसे स्त्री, धन, पुत्र-पौत्र आदि सारा कुटुम्ब, गृह, बान्धव–ये सब भले ही प्राप्त हो गये, जिसके मुख में छहों अंगों सहित वेद तथा छहों शास्त्रों की विद्या विद्यमान है और जो सुन्दर गद्य-पद्यवाली कविता भी करता है, जिसका विदेशों में भारी सम्मान है, स्वदेश में भी जो धन्य माना जाता है तथा जिसके समान दूसरा कोई सदाचारी भक्त नहीं है, भूमण्डल के सभी राजसमूहों द्वारा जिसका चरणकमल सदा सेवित है, दान के प्रताप से दिशाओं में यश व्याप्त है, सारी वस्तुएँ करतलगत हैं, चित्त न भोग में लगता है न योग में, न धन में आसक्त होता है, उसका मन यदि श्रीसद्गुरु के चरणों में नहीं लगा तो उससे क्या लाभ ? यद्यपि मेरा मन न वन में न अपने घर में, न कार्य में और न बहुमूल्य शरीर में ही लगता है, फिर भी यदि वह श्रीसद्गुरु के चरण कमल में न लगा तो उससे क्या लाभ ? जिसका मन गुरु के उपर्युक्त वाक्य में लगा हुआ है, ऐसा जो पवित्रकाय संन्यासी, राजा, ब्रह्मचारी और गृहस्थ इस गुर्वष्टक स्तोत्र का पाठ करेगा, उसे अभीप्सित ब्रह्म नामक पद की प्राप्ति होगी।।

□ विशेष लेख

ध्यान की विधियाँ एवं उनकी अतुलित शक्तियाँ

योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

श्री प्रभु जी ध्यान की विधियाँ बताया करते थे। एक जगह पर एक अच्छे महात्मा अच्छी स्थिति के थे। उनसे मेरे सामने ही किसी व्यक्ति ने श्री प्रभु जी के विषय में पूछा-महात्मा जी ! प्रभु जी क्या है ? कैसे हैं ? इस पर उन्होंने कहा- श्री प्रभु जी परम योगेश्वर सर्वशक्तिमान हैं। उनकी ताकत का कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता-कोई अन्त ही नहीं। किन्तु फिर एक बात और कही-उनकी भावना से किसी और को, किसी और आकृति को भी देखोगे तो वह आकृति भी तुम्हारे लिये सिद्ध हो जायेगी-तुम जिसका ध्यान करोगे वह भी सिद्ध हो जायेगा।

उस समय मुझे भगवान के ये शब्द याद आये **श्रद्धामयोऽयं पुरूषो यो यच्छ्द्धः स एव सः** अर्थात् जिस की जैसी श्रद्धा होती है परमात्मा वैसे ही बन जाते हैं। हम भगवान राम की, भगवान कृष्ण की, भगवान शिव की तस्वीरें देखते हैं वह मन की कल्पना ही है। हमने भगवान राम को नहीं देखा, भगवान कृष्ण को नहीं देखा। पुस्तकों से पढ़कर अथवा किसी से सुनकर के, तस्वीर बनाने वाले के मन में जो तस्वीर बनती है, वैसे ही तस्वीर बना लेता है। तुमने बाजार में जाकर देखा होगा भगवान कृष्ण की कई तस्वीरें होती हैं। लेकिन वे तस्वीरें एक दूसरे से मिलती नहीं हैं। तस्वीर भिन्न-भिन्न होती हैं। बनाने वाले के दिमाग में जैसे-जैसे भाव होते हैं उसी कल्पना से चित्र बना लिया करता है। योग दर्शन में समाधि की प्राप्ति के बहुत से उपाय हैं उनमें एक उपाय है **'वीतराग विषयम् वा चित्तम्** अर्थात वीतरागी पुरुषों के ध्यान से भी समाधि होती है। वीतराग पुरुष का जब हम चिन्तन करते हैं तो वह ही हमारे लिये परमेश्वर बन जायेगा। जब हम चिन्तन आरम्भ करते हैं तो वह हमारी कल्पना ही होती है। किन्तु ध्यान करने वाला जब उस आकृति का ध्यान करेगा तो उसकी अपनी मानसिक शक्ति से ध्यान की शक्ति से उस तस्वीर में प्राण स्पन्दन होने लगेगा, तस्वीर बोलने लगेगी-आशीर्वाद देगी। यह बातें तस्वीर से होने लगेंगी।

हमें बहुत से ऐसे व्यक्ति मिलते हैं जो श्रद्धापूर्वक भगवान की मूर्तियों का ध्यान किया करते हैं। श्री प्रभु जी बताया करते थे-इन मन्दिरों का निर्माण क्यों हुआ ? यह केवल आरती पूजा के लिये ही नहीं है- मूर्तियों से मनुष्य के मन में श्रद्धा अंकुरित हो जाती है। वही चित्र देखते-देखते हमारे चित में अंकित हो जाता है और जब हम उनका ध्यान करते हैं तो वही चित्र ध्यान में आने लगेगा। ध्यान में जो आकृति बन जायेगी उसके अन्दर अपने आप प्राण समाविष्ट हो जाया करता है। और वह आकृति बोला करती है आशीर्वाद देती है आदि-आदि कार्य होने लगते हैं। संसार में सभी शक्ति प्राप्त करना चाहते हैं। वह शक्ति जो शक्तिशाली है, उनसे मिला करती है। योगी लोग

दूसरे की शक्ति को प्राप्त करने के लिये क्या करते हैं ? इसके कई उपाय हैं। पहला उपाय है यदि कोई योगी हमसे शक्तिशाली है तो उससे शक्ति प्राप्त करने का उपाय तो यह है **'तद्विद प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया'** उन्हें नमस्कार करो, उनकी सेवा करो तब वह प्रसन्न होकर अपने ज्ञान का उपदेश करेगा। जब तक वह प्रसन्न नहीं होगा अपने भीतरी अनुभव व ज्ञान को नहीं बतायेगा– यह शक्ति प्राप्ति का एक उपाय हुआ।

दूसरा उपाय है जो ध्यान से सम्बन्ध रखने वाला है। हम चाहते हैं अमुक व्यक्ति क्या मन्त्र जप रहा है तथा उसके मन में क्या-क्या विचार आ रहे हैं यह जानें तो इसका उपाय यह है कि यदि हमारे मन की ताकत बढ़ी हुई है धारण ध्यान का अभ्यास करते-करते मानसिक स्थिति जिसकी इतनी उत्कृष्ट हो गई हो कि वह अपनी ताकत से दूसरे को आकर्षित कर सके अपने पास बुला सके। जैसे लोक में एक प्रभावशाली व्यक्ति किसी को बुलाता है इधर आओ ! तो वह तुरन्त आ जाता है। पता नहीं गुरुजी मुझे क्यों बुला रहे हैं यह सोचकर दौड़ा हुआ आता है– या मालिक अपने किसी नौकर को बुलाता है तो वह आवाज सुनते ही तुरन्त भागा चला आता है इसी प्रकार से योगी की अपनी ताकत होती है। योगी जिस जीव को बुलाना चाहता है ध्यान में बैठकर जिसके लिये संकल्प करता है वह आकृति (व्यक्ति) जहाँ भी हो चटपट उसी समय सामने आ जायेगा। ताकत वाला उसके सूक्ष्म शरीर को खींच लेगा। वह चला आयेगा। उसके सूक्ष्म शरीर से जो भी पूछना चाहेगा सूक्ष्म शरीर सब कुछ सत्य-सत्य बता देगा। सूक्ष्म शरीर की भी आकृति वैसी ही होती है जैसे स्थूल शरीर की। सूक्ष्म शरीर का पुतला सामने आयेगा और योगी के प्रभाव से सब कुछ बता देगा।

तीसरा उपाय एक और है वह है **'मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धि निवेशय का'**। यदि कोई योगी किसी के मन की स्थिति जानना चाहता है तो उसे योग ध्यान की विधि से जान पायेगा। ध्यान की स्थिति में ध्याता, ध्यान और ध्येय तीन वस्तुयें रहा करती हैं। ध्यान करते-करते ध्येय ही सामने रहता है। वही-वही दिखलाई देता है। यह पातंजल ध्यान पद्धति है। एक और भी ध्यान की पद्धति है वह है **'ध्यानं निर्विषयं मनः'** अथवा **'न किञ्चिदपि चिन्तयेत्'**। मनुष्य ध्यान में बैठ जाये और किसी भी वस्तु का चिन्तन न करे। मन को विचारों से शून्य कर दे इस में भी वृत्ति निरोध हो जाती है। मैंने तुम्हें बताया था कि योग दो प्रकार से प्राप्त होता है। सिद्धों की कृपापूर्वक शक्तिपात द्वारा तथा साधन योग से। ध्यान धारणा का अभ्यास प्राणायाम, बन्ध-मुद्राओं का अभ्यास साधन योग है। मनुष्य, योग अपनी योग स्थिति बनाने के लिये जो भी प्रयत्न करता है वह सब साधन योग है। समाधि प्राप्ति के लिए वीतराग पुरुषों का ध्यान करते हैं। किन्तु ध्यान इसलिये नहीं करते हैं कि उनसे कुछ प्राप्त कर लें। योगी उनके स्वरूप को ध्येय बनाकर उनका चिन्तन किया करते हैं। उसमें ही समाधि हो जाया करती है ध्यान करने से ही उन्हें वीतरागियों को ज्ञान हो जाता है। हमारे मन में धारणा बनी ! हे शिव ! हे विश्वनाथ ! तो वहाँ संस्कार बने इधर उनको ज्ञान हो गया। अमुक व्यक्ति मुझे याद कर रहा है। चिन्तन मात्र से महापुरुष-सिद्ध पुरुष ध्यान करने वाले को जान लेते हैं। क्योंकि उनका अन्तःकरण शुद्ध होता है। उनका जो जैसा चिन्तन करता है उसी रूप में उनके

सामने आ जाता है। यदि कोई प्यार करता है तो प्यार करता हुआ उसका सूक्ष्म शरीर सामने आ जायेगा। यदि कोई क्रोध करता है, सूक्ष्म शरीर क्रोध करता हुआ सामने आ जायेगा। चिन्तन से ही वे जान लिया करते हैं क्योंकि वे सर्वसमर्थ है। किन्तु उनके अतिरिक्त भी एक योगी जो नियम से ध्यानाभ्यास करते हैं वह भी अपने संस्कारियों को जान लेते हैं। उनको भी ज्ञान हो जाता है कि अमुक व्यक्ति मुझे याद कर रहा है। अमुक भक्त को दुःख हो रहा है आदि-आदि बातें तत्काल ज्ञात हो जाती हैं।

द्रौपदी ने कौरवों की भरी सभा में संकट के समय भगवान को याद किया। सबसे पहले द्रौपदी ने भगवान के लिये एक बात कही–

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् कृष्ण गोपीजन प्रियः।
कौरवार्णव निमग्नां मां किं न पश्यसि केशव।।

हे महायोगी मुझे आप क्यों नहीं देख रहे हैं ? उसके कहने का अभिप्राय यह है कि आप तो महायोगी हैं। एक साधारण योगी भी जिसका अच्छा ध्यान लगता है, इस बात को जान लेता है कि मेरे अमुक भक्त को कष्ट है, अमुक मित्र को संकट है। आप तो महायोगी हैं आप मुझे क्यों नहीं देख रहे हैं ? मैंने दो दिन पूर्व प्रातिभ ज्ञान का वर्णन किया था। इसके उदय होने पर योगी के मन में सत्याभास होता है। जो कुछ जैसा हो रहा है वैसा ही उसके मन में भावना बनती है। वह देखता नहीं है। देखना तो उसके संकल्प पर होगा बाद में। यदि उसके मन में भावना आ रही है, अमुक स्थान पर वर्षा हो रही है तो उस स्थान पर वर्षा हो ही रही होगी, इसमें शंका की कोई बात नहीं होगी। मैंने तुम्हें कई बार पहले भी रामस्वरूप सफीदों वाले की घटना सुनाई थी। हमारे एक महात्मा ने उनसे कह दिया कि आप जल्दी-जल्दी दीक्षा ले लो। उसने जल्दी दीक्षा ले ली। बाद में उससे पूछा–आपने जल्दी दीक्षा लेने के लिये क्यों कहा ? उन्होंने कहा– तुम्हारी पत्नी को प्रसव हो गया है, उन्होंने लड़के को जन्म दिया है। सूतक से पहले ही दीक्षा लेनी चाहिये इसलिये मैंने जल्दी करने के लिये कहा था। बात ज्यों की त्यों थी। गुफा पर बहुत से आदमी मौजूद थे। उन्होंने पूछा–महाराज आप को कैसे पता लगा कि इसकी स्त्री को प्रसव हो रहा है। क्या आपने प्रसव होते हुये देखा ? या आपको कोई स्वप्न हुआ। आपको कैसे पता लगा ? तो उसने बिल्कुल सत्य बताया–मैंने देखा नहीं, नजर मेरी नहीं गई; किन्तु मेरे मन में भाव आया, बच्चा पैदा हो रहा है– ऐसा संकल्प मेरे में आया। ऐसे संकल्प जब मेरे मन में आते हैं, सब सत्य होते हैं, इसलिये मैंने अपने संकल्प के आधार पर कह दिया कि जल्दी दीक्षा ले लो। और संकल्प आने के बाद जब योगी देखना चाहे तो उसके संकल्प से तत्काल दृष्टि भी वहाँ पहुँच जाती है। और उसे सब कुछ दीख जाता है।

बनारस में हमारा एक महात्मा सच्चिदानन्द रहता है। श्री प्रभु जी के चरण कमलों में आया था। श्री प्रभु जी ने उसे रसोई के काम के लिये चार-पाँच रुपये मासिक वेतन पर रख लिया था। मैं भी उन दिनों श्री प्रभु के चरणों में ऋषिकेश रहा करता था। थोड़े दिनों में उसे विरक्ति हो गई और उसने स्वर्गाश्रम में जाकर संन्यास ग्रहण कर लिया। संन्यास तो ले लिया, किन्तु श्री प्रभु जी की कृपा

पूर्वक उसका ध्यान अपने आप चलता था। हमारे भाई बहिनों के बीच ध्यान में बैठने से भी उसकी स्थिति बढ़ी। संन्यास लेने पर भी बाद में श्री प्रभु जी से योग दीक्षा ले ली। वह वृद्ध हो गया है कानों से भी कम सुनाई देता है। हमारा एक बच्चा विष्णु है वह उनके पास जाया करता है- वह विष्णु से कहता था- देखो विष्णु ! इस दीवार के अन्दर सिद्ध लोग आ रहे हैं श्री प्रभु जी आ रहे हैं। मैं इस दीवार से आगे के दृश्य देख रहा हूँ। यह सब उसके आत्म ध्यान की बातें हैं। मैं तुम्हें जिस बात को समझाना चाहता हूँ वह यह है कि जब योगी को प्रातिभ ज्ञान हो जाता है तो वह सत्य संकल्प वाला हो जाता है। उसके मन में संकल्प आ रहा है, अमुक स्थान पर वर्षा हो रही है, अमुक स्थान पर अग्निकाण्ड हो रहा है, तो ये बातें वस्तुतः हो रही होंगी तभी उसके मन में संकल्प आया। प्रातिभ के अनुसार वह हजारों कोस दूर की वस्तु को भी छू लेता है। यदि देखना चाहता है तो कोसों दूर की देख लेता है। यदि हजारों कोस दूर की बात सुनना चाहता है तो सुन लेता है। यह सब बातें उसमें स्वाभाविक आ जाती हैं। मुझे आनन्दकन्द प्रभुजी की एक घटना याद आई। एक बार श्री प्रभुजी अमृतसर में विराजमान थे और कुछ दिन के लिये उन्होंने ऐसा कर दिया था कि अपने कमरे बन्द रखते थे किसी से मिलते-जुलते नहीं थे। खास आवश्यक हुआ तो ही मिलते थे, अन्यथा नहीं मिलते थे। उस समय वहाँ पर लोग दर्शन करने आते थे, दर्शन करके तुरन्त लौट जाया करते थे।

श्री प्रभु जी के लीलावसान के बाद अमृतसर का एक ब्राह्मण जगन्नाथ वैष्णव देवी के दर्शन करने जा रहा था। जाते-जाते वह पहाड़ पर किसी गड्ढे में गिर गया उसने किसी योगी के बारे में सुन रखा था कि वहाँ आसपास में बहुत बड़े योगी रहते हैं। जगन्नाथ की प्रभु जी में श्रद्धा नहीं थी। वे उन्हें ढोंगी ही मानता था। कहता था जैसे ब्राह्मण ये वैसे हम हममें उनमें क्या फर्क है ? किन्तु जिस समय वह उस गड्ढे में गिर गया तो उसके मन में धारणा आई कि यदि प्रभु जी शक्तिमान हैं तो ऐसी कृपा करें कि योगी के दर्शन हो जाये। उसके मन में ऐसे विचार आते ही योगी सामने आ गये। क्यों ? क्यों खड़ा है यहाँ पर ? वह कहने लगा-महाराज ! मैं आपके दर्शन करने आया हूँ। योगी कहने लगे-तू मूर्ख है ! सूरज को छोड़कर दीपक के पास आया है ? वह ब्राह्मण कहने लगा- महाराज ! कौन सूरज और कौन दीपक, मैं समझ नहीं पा रहा हूँ। महाराज ने कहा-सूरज तो वे जिनसे तू हाथ जोड़कर प्रार्थना कर रहा था कि ऐसी कृपा करें मुझे योगी के दर्शन हो जायें- मैं दीपक हूँ उनका ही बच्चा हूँ। इसके बाद वे महात्मा उस ब्राह्मण को अपनी गुफा में ले गये-जगन्नाथ ने देखा- गुफा में बड़ा प्रकाश हो रहा है वहाँ श्री प्रभु जी का बड़ा चित्र है। चित्र पूजित है आरती की ज्योति जल रही है। गुफा में बहुत भारी प्रकाश को देखकर ब्राह्मण कहने लगा-महाराज ! यहाँ यह इतना प्रकाश कहाँ से आ रहा है ? महात्मा ने कहा- यह उन्हीं की कृपा की लाईट है। ब्राह्मण ने पूछा- महाराज -उनका यह चित्र आपके पास यहाँ पहाड़ में कैसे आया ? महात्मा ने एक घटना बतलाई। वह कहने लगा-देखो, एक बार श्री प्रभु जी ने एकान्तवास शुरू कर दिया था, उनकी दाढ़ी काफी बढ़ गई थी उनका विचार था कि वह नैपाल को चले जायें, उस समय बहुत से योगी उनसे प्रार्थना करने के लिये जाते थे कि प्रभु जी अभी आप नैपाल को न जायें। अभी आपने अपने बच्चों

का उद्धार करना है। योगियों में मैं भी था। मैं उनके पास उस कोठी में मिलने गया था। पं० जगन्नाथ ने पूछा- महाराज ! आप कौन सी कोठी में गये थे-महात्मा जी ने कहा-रेलवे स्टेशन के पास एक बड़ी सी कोठी में प्रभु जी एकान्तवास कर रहे थे। वहाँ हम लोग गये थे। वह कोठी ला० चुन्नी लाल की कोठी थी। यह चित्र मैंने वहाँ कोठी में देखा था-उस समय मैंने कुछ नहीं कहा। किन्तु मेरे मन में भावना बनी कि प्रभु जी यह चित्र मुझे दे दें। किन्तु मैंने उनसे कुछ नहीं कहा- ऐसी भावना को लेकर मैं वापिस आ गया, यहाँ गुफा में आने पर भी मेरी यह भावना बनी ही रही कि चित्र हमें मिल जाता तो अच्छा था। एक दिन प्रभु जी ने वहीं से ही उठाकर यह चित्र हमें दे दिया था। यह श्री प्रभु जी का दिया हुआ चित्र है इसका हम पूजन करते हैं। इन्हीं का प्रकाश इस गुफा में है।

मेरे कहने का अभिप्राय यह-**'ततः प्रातिभश्रावण वेदनादर्शास्वाद वार्त्ता जायन्ते'** यह योग दर्शन का सूत्र है। इसका अर्थ यह है कि योगी को पहले प्रातिभ ज्ञान होता है। प्रातिभ ज्ञान होने पर योगी को सत्यानुभूति होती है। मन के अन्दर कोई कुसंकल्प आता ही नहीं।-जो वर्तमान में होने वाला है वही संकल्प आता है। प्रातिभ ज्ञान के बाद यदि योगी उस घटना को देखना चाहे तो देख भी लेता है। उपनिषदों में जहाँ हम ब्रह्मलोक का वर्णन पढ़ते हैं वहाँ पर इस प्रकार की बातें आती हैं जैसे कल परसों मैं अपने व्याख्यान में देवलोक में **रहने वाले की शक्ति का वर्णन कर रहा था-** उनमें शक्ति विशेष हुआ करती है। जैसे हमारे मनुष्य लोक में पक्षियों को स्वभाव से ही आकाश गमन होता है किन्तु मनुष्य नहीं उड़ सकता। क्योंकि मनुष्य के अन्दर यह ताकत है नहीं। मनुष्य यदि आकाश में उड़ना चाहेगा तो उसके लिये आवश्यक है समाधि लगावे, संयम करे। उसके बाद आकाश में उड़ने की ताकत आ जायेगी। **''कायाकाशयोः सम्बन्ध संयमात्लघुतूल समापत्तेश्चाकाश गमनम्''** शरीर और आकाश के सम्बन्ध में जब **योगी संयम करता है तो शरीर** रूई के मानिन्द हल्का हो जाता है और धीरे-धीरे **आकाश में उड़ने** लगता है। **किन्तु पक्षियों को यह** शक्ति स्वभाव से प्राप्त है। इसी प्रकार से देवलोक के जो देवता हैं उनके अन्दर आकाश गमन करना, दूर का देखना, दूर का सुनना वरदान व अभिशाप देना आदि ताकतें स्वभाविक हुआ करती हैं और यहाँ बुढ़ापा और मौत वगैरह नहीं आतीं। उन्हें बुढ़ापा नहीं आता और प्राण हमारी तरह नहीं छोड़ते। उनके शरीर पुण्य क्षीण होने के साथ-साथ अपने आप घटते रहते हैं।-एकदम दिव्य आत्म तेज के द्वारा दूसरी जगह जन्म ले लेते हैं।

मैं अभी तुम्हें इन देवलोक से आगे ब्रह्मलोक के देवताओं के बारे में बता रहा था। वहाँ के **आत्माओं में योगियों वाली विशेष शक्ति स्वाभाविक** होती है। वहाँ के देवता ब्रह्माण्ड में कहीं की भी बात सुनना चाहें तो **'श्रृण्वन श्रोतम् भवति'** इच्छा मात्र से उनके काम हो जाते हैं। मनुष्य लोक में हमें एक दूसरे की बात को सुनने के लिये कान लगाना पड़ता है। इस प्रकार से थोड़ी दूर की आवाज को ही हम सुन पाते हैं। ब्रह्मलोक के देवताओं के मन में आया हम सुन लें तो **'श्रृण्वन् श्रोतम् भवति।'** यदि ब्रह्मलोक के किसी आत्मा को ख्याल आया कि मैं मनुष्य लोक के अपने अमुक व्यक्ति की बात सुनूँ तो सुनने की भावना मात्र से कहीं भी कोई भी शब्द हो सुन लेता है वे

तेजस जीव होते हैं तेज में विलीन रहा करते हैं। सुनना चाहते हैं तो सुन लेते हैं। **'पश्यन् चक्षुः भवति'**-देखना चाहें तो आँखें हैं। हम लोगों को आँखों से एक तरफ की दिखाई देती है जिधर आँखें हैं, पीछे की वस्तु को देखना हो तो पीछे मुड़ने पर ही दिखाई देगी। वह भी एक सीमित दूरी तक। हमारी नेत्र की शक्ति आँखों के गोलक के दायरे में है। किन्तु ब्रह्मलोक के वासियों को ऐसा नहीं करना पड़ता। वहाँ गोलकों की आवश्यकता नहीं पड़ती, सुनना चाहते हैं, कान हो जाते हैं **'स्पर्शन् त्वग् भवति'** किसी को छूना चाहें तो छू लेते हैं। उनमें विकरण भाव होता है। बिना इन्द्रियों के सब काम कर लेते हैं। वे प्रकृतिलीन से ऊपर हैं व एक दिव्य तेज में फिरा करते हैं। दिव्य तेज में ही सुनने, देखने, छूने आदि की इच्छा होते ही सब कार्य हो जाते हैं। योगियों के अन्दर यह शक्ति योग ध्यान के द्वारा स्वतः प्राप्त हुआ करती है।

मुझे एक घटना और याद आई जो इस सिद्धान्त को और स्पष्ट करने वाली है। श्री प्रभु जी ऋषिकेश आश्रम में विराजमान रहा करते थे। उनके चरण कमलों में एक महात्मा आया उसने उनसे योग दीक्षा ग्रहण की। कैसे ग्रहण की, यह बात मैं तुम्हें बताऊँ। श्री प्रभु जी शाम को गंगा किनारे घूमने आया करते थे। मैं भी उनके साथ होता था। वहाँ गंगा किनारे पत्थर पर एक महात्मा बैठा रहता था। माला तुलसी की रखता था और भजन में बैठा रहा करता था। श्री प्रभु जी ने उस महात्मा को गौर से देखा और आगे चल पड़े। जो साथ में समझदार थे वे कहने लगे कि हाँ प्रभु जी ने इस पर तो कुछ कृपा कर दी। दूसरे दिन फिर प्रभु जी वहाँ गये। उस दिन वह महात्मा बिलकुल निस्तब्ध बैठा था-दो तीन दिन के बाद वे महात्मा अपने आप आश्रम में आया और योग दीक्षा प्राप्त की। योग दीक्षा प्राप्त करने के बाद उसका योग ध्यान चलने लगा। उसने श्री प्रभु जी से एक सवाल किया कि प्रभु जी ऐसी कृपायें आप उन्हीं पर करते हैं जो आप से दीक्षा लेते हैं या और भी लोगों पर दूसरी जगह भी करते हैं। श्री प्रभुजी हँस पड़े कहने लगे-वे सर्वशक्तिमान प्रभु सब पर सभी जगह कृपा करते हैं। वह कहने लगा- मैंने आप की कृपा अनुभव तो गंगा किनारे कर लिया था किन्तु दीक्षा के बाद ध्यान की स्थिति ऊँची हो गई है। तो प्रभु जी आप यह बतायें दूसरी जगह आप कैसे करते हैं ? वह श्री कृष्ण में प्रेम रखता था। श्री प्रभु जी कहने लगे-जा, मथुरा वृन्दावन चला जा वहाँ पर अपने इष्ट देव का ध्यान करते रहना, वहाँ तुम्हें इस बात का जबाब अपने आप मिल जायेगा। बेकार क्यों मेरा कान खाया करता है। श्री प्रभु जी की आज्ञा पाकर वह वृन्दावन चला गया। वहाँ जाकर गाजीपुर में बरसाना नन्द गाँव के बीच में प्रेम सरोवर में रहा। वहाँ पास में राधा गोविन्द जी का मन्दिर है, वहाँ जाकर के वह महात्मा रहा । आजकल तो प्रेम सरोवर में बहुत परिवर्तन हो गया। उस प्रेम सरोवर में वह महात्मा रात को घूमा करता था। और प्रभु जी की कृपाओं का अनुभव किया करता था। वहीं पर श्री प्रभु जी ने उसे अनुभव करा दिया कि श्री प्रभु जी कहीं पर भी किसी पर भी कृपा कर सकते हैं, इसलिये सर्वशक्तिमान गुरुदेव श्री प्रभु जी के अभय चरणों को पाकर अपने को ध्यानी-योगी बना लो, तभी देह धरे का फल मिलेगा। बार-बार आशीर्वाद।

❊❊❊

।। श्री गुरुचरण कमलेभ्यो नमो नमः ।।

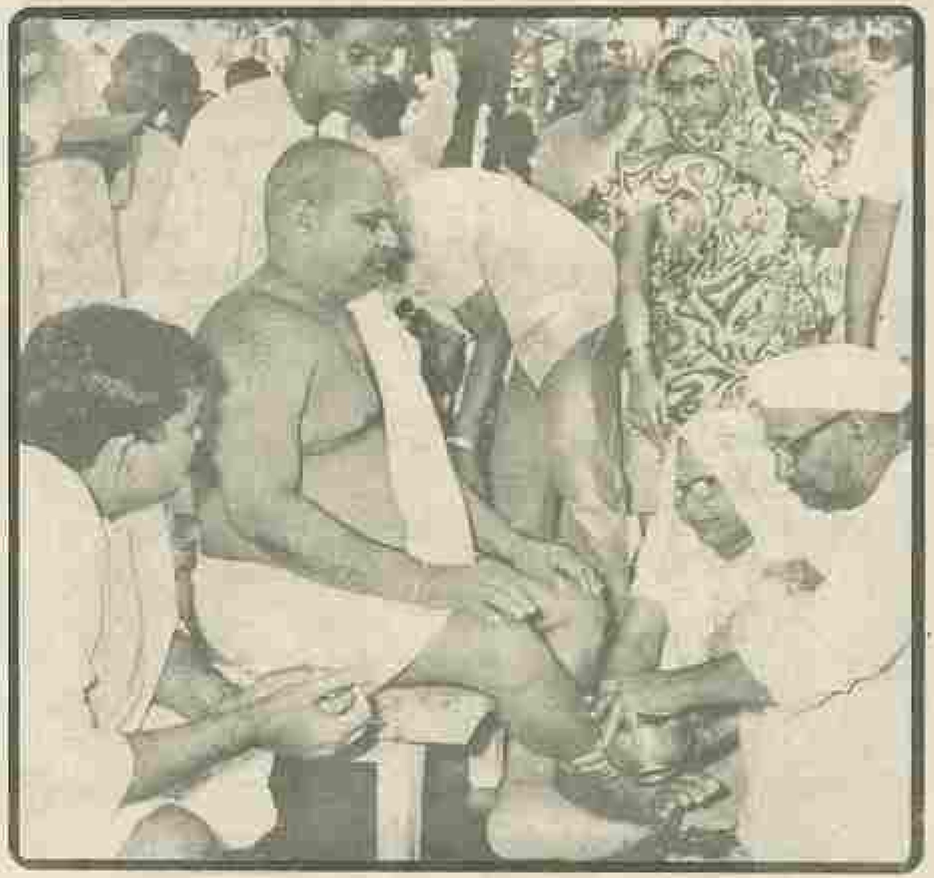

वर्ष १९७८ में श्री गुरुदेव जी के जन्म दिवस पर पंचामृत स्नान से पूर्व उनके चरणारविन्द पखारते भरतपुर निवासी लाला हरिचरन लाल अग्रवाल।

सद्गुरु तत्व रूप तुम स्वामी।

चरण चञ्चरीक–दिव्य

जन्म दिवस गुरुदेव आपका
पुण्य पर्व ले आया,
इसीलिए जन-जन के मन में
प्रेम उमड़कर छाया।।

•

बड़े पुण्य से बड़े भाग्य से
आई है ये बेला,
ओत-प्रोत खुशियों से मुखरित
है भक्तों का मेला।।

•

यदा-कदा ही जन्म धरा पर
सिद्धेश्वर हैं आते,
कभी राम शुकदेव श्याम बन
मोहन हैं आ जाते।।

•

सिद्ध योग के दिग्दर्शक तुम
उपकारक जन-जन के,
हो आधार निराधारी के
सम्बल बल हीनन के।।

•

श्री सिद्ध गुफा की पुण्य भूमि में,
देते हो प्रभु का उपदेश,
डूबी हुई योग नौका के
बने खिवैया तुम योगेश।।

•

श्रद्धा भरे हृदय से जिसने
कुटी तुम्हारी खोली,
आशुतोष हो औढ़र दानी
भर दी सबकी झोली।।

सद्गुरुतत्व रूप तुम स्वामी
तेज अखण्ड प्रचण्ड महान्,
निहित आप में सकल भुवन के
परम सनातन ज्ञान विज्ञान।।

•

अखण्ड धैर्य साहस बल के
प्रखर सौम्यता के अगार,
मुक्त हस्त से छिपे-छिपे तुम
करते लाखों का उपकार।।

•

साधक कोई भटक न जाये
इस तमसावृत जग में,
इसीलिए तुम ज्योति जलाकर
आ बैठे हो मन में।।

•

नर होकर भी नारायण हो
महिमा अगम अगोचर,
'मोहन नाम रूप ले आये
हुये सभी को गोचर।।

•

कृपा दृष्टि से अपनी तुमने
अनगिन अधम उबारे,
परम भक्तवत्सल बन सबके
बिगड़े काज संवारे।।

•

कौन तुम्हारे ऐसे ऋण से
उऋण हो पायेगा,
नित्य प्रति चरणों में चित दे
तेरी महिमा गायेगा।।

सद्गुरुदेव योगिराज श्री चन्द्रमोहन जी महाराज का पावन प्राकट्य दिवस

करुणामूर्ति सद्गुरु योगिराज श्री चन्द्रमोहन जी महाराज का प्राकट्य विजय दशमी के पावन पर्व पर हुआ था। कलिमल से विदग्ध, त्रयताप पीड़ित जनों के हृदय ताप को शान्त करने वाले चन्दन के समान शीतलता प्रदान करने वाले ये महापुरुष अपने योगी भक्तों के लिये युगों-युगों तक वन्दनीय रहेंगे। सिद्ध लोक से सिद्ध मण्डल में जो सर्वाधिक करुणा, प्रेम, दया एवं वात्सल्य की मूर्ति होती हैं उन सिद्ध योगियों को समय-समय पर पृथ्वी मण्डल पर आकर मानव जाति को अज्ञानान्धकार से उबारकर योग के अविनाशी पथ को दिखाने के लिये मनुष्य रूप धारण करना पड़ता है। यहाँ आकर वे अपने मूल रूप का बोध रखते हुये मनुष्य की भाँति व्यवहार करते हैं उन्हीं के धरातल पर आकर मानवोचित विषमताओं को झेलते हैं। योग के अल्प व क्षीण संस्कारी व्यक्तियों को भी ऐसे महापुरुष अपनी ओर तो खींच लेते हैं किन्तु अधिकांशत: ऐसे लोग अन्तेवासी शिष्य के रूप में आ जाने पर भी अपने अन्दर मलिनता, द्वेष, घृणा एवं हिंसा आदि के भाव विद्यमान रखते हैं। ऐसी स्थिति में ऐसे अनुयायियों व शिष्यों को जो सम्पदा वह देना चाहते हैं, दे नहीं पाते। अधिकांश कलिमल ग्रसित ऐसे शिष्य, घृणा, अभिमान, महत्वाकांक्षा के कारण आत्मबोध के मार्ग से बहुत दूर रह जाते हैं और सिद्ध गुरुओं का सानिध्य पाकर भी उनसे विशेष कृपा लाभ ले नहीं पाते। किन्तु जब उनकी मोहनिद्रा टूटती है तब गुरुदेव के तिरोहित हो जाने के कारण पछताते रहते हैं। अन्तत: गुरु कृपा हो जाने पर ऐसे लोग भी शीघ्र ही सत्य के मार्ग का अवलम्ब लेने लगते हैं। क्योंकि सिद्धों का सानिध्य व्यर्थ नहीं होता। उनके सम्पर्क के शुभ संस्कार अपनी अनुकूलता पाकर फूलते-फलते हैं। जन्म-जन्म की साधना, तप व ध्यानाभ्यास के फलस्वरूप ईश्वर एवं गुरु में दृढ़ भक्ति बन पाती है। तब उनके अन्दर प्रेम, दया, निरभिमानता आदि गुणों का प्राकट्य सहज हो जाता है। योग साधना करना सरल है, मन को एकाग्र करना भी सरल है, सिद्धियों को हस्तगत कर लेना भी सरल है; किन्तु मानवोत्तर दया, प्रेम एवं भक्ति के प्रवाह से मानव जाति को संतृप्त एवं संचारित कर उनके कल्याण का महास्रोत खोलने का काम कोई-कोई विरल महापुरुष ही कर सकते हैं ! इसलिये यह आवश्यक नहीं है कि कोई योगी है, तो वह सद्गुरु ही हो।

करुणासागर नित्य वन्दनीय सद्गुरुदेव श्री चन्द्रमोहनजी महाराज जितने अन्तरंग शक्तियों के स्वामी थे उतने ही व्यवहार जगत में उदात्त थे। उनकी वात्सल्य मूर्ति को देखने से प्राचीन काल के वशिष्ठ आदि ऋषियों की स्मृति हृदय पटल पर तैरने लगती थी। आप्तकाम व पूर्णकाम होने पर भी सांसारिक लोगों की भाँति कर्म में रत रहना उनके जीवन का अभिन्न अंग बन गया था। लोकसंग्रह

एवं अपने भक्तों के सुख एवं आत्मोत्थान के लिये ही वे कर्म में जुटे रहते थे। अपने शिष्यों को वे सदा ही कार्यरत रहने की शिक्षा दिया करते थे। उनका कहना था कि साधना की नियमानुवर्तिता के बिना साधनासिद्धि नहीं हुआ करती है। इसलिये वे योग मे 'तत्परता' पर बल देते थे। माता-पिता मनुष्य को भौतिक शरीर देते हैं जो मरणधर्मा है, मृत्युलोक की यात्रापर्यन्त इसकी अवस्थिति रहती है तत्पश्चात यह देह पंच तत्वों में विलीन हो जाता है। यह बात अलग है कि हम इससे योग-धर्म को अर्जित कर मुक्ति का मार्ग प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु गुरुदेव जो शरीर प्रदान करते हैं वह अनश्वर शरीर है जो नश्वर जीव को अविनाशी बना देता है। **'माता से हरि सौ गुना हरि सौ गुरू सौ बार'** की उक्ति गुरुमार्गियों में सर्वविदित है। इस संसार में गुरु के समान शिष्य का कल्याण करने वाला और कोई नहीं हो सकता। शिष्य के सभी पाशों को गुरुदेव ही खोल सकते हैं, इसीलिये शिष्य के लिये गुरुदेव ही परम तत्व हैं। इस सम्बन्ध में कबीरदास जी कहते हैं-

सद्गुरु बड़े सराफ हैं परखें खरा और खोट। भवसागर ते काढ़ि के, राखे अपनी ओट।

गुरुदेव के अतिरिक्त शिष्य को कोई भी भवसागर से नहीं निकाल सकता। भवरोग के कुशल वैद्य गुरुदेव ही कहे गये हैं। देश-काल से अनाबद्ध सद्गुरु स्वयं एक युग होते हैं। जिस स्थान पर वे विराजमान रहते हैं वही सत्युग हो जाता है। अपनी आत्म-शक्ति से अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों को ओत-प्रोत कर देने वाले गुरुदेव की दिव्य शक्तियाँ अधम-जनों को भी पावन बना देती है। गुरुदेव की सत्ता की प्रतिष्ठा जहाँ हो जाती है, वह व्यक्ति दैवी सम्पदा से युक्त होकर दिव्य गुणों का स्वामी बन जाया करता है। सद्गुरु भले ही लम्बा-चौड़ा व्याख्यान न दे तो भी अपने कर्म, व्यवहार एवं जीवन दर्शन से अपने अनुयायियों को सभी कुछ सिखा दिया करते हैं। अपने भक्तों के अन्दर बीजरूप से प्रसुप्त भगवत् भाव एवं श्रद्धा-प्रेम के गुणों का अभिसिंचन कर उन्हें विकसित तथा पुष्पित करना ही गुरुदेव का कार्य होता है। गुरुदेव कर्म द्वारा सत्य का दर्शन कराते हैं। सिद्ध लोक में अपने नित्य- स्वरूप में अवस्थित रहने वाले ये सिद्ध गुरु मनुष्यों के सामान्य धरातल पर उतर कर मनुष्यों जैसा व्यवहार करते हैं। इसी में माया से अपहृत बुद्धि वाले मनुष्य उनकी ओर आ नहीं पाते तमोच्छादित बुद्धि होने के कारण वे लोग गुरुदेव में भी मनुष्य बुद्धि रखा करते हैं और उनसे कोई लाभ नहीं ले पाते। जिनके प्राक्तन उज्ज्वल संस्कार होते हैं, अथवा वंश परम्परा से उज्ज्वल वंश में उत्पन्न दैवीय संस्कारों वाले व्यक्ति की सद्गुरु चरणों में सहज ही प्रीति हो जाती है। गुरुदेव की प्रसन्नता ही आत्मदर्शन में कारण बनती है। **गुरु वक्त्रे स्थितम् ब्रह्म, लभ्यते च तत्प्रसादतः।** गुरुदेव के मुख में ब्रह्म स्थित है, उनकी कृपा से ही वह प्राप्तव्य है। गुरुदेव तक शिष्य भले ही पहुँच जाये किन्तु उसकी प्रसन्नता को पाना बहुत कठिन बात है। चित्त की निर्मलता एवं सेवा से गुरुदेव प्रसन्न होते हैं और यह करना ही कठिन काम है। सेवा का तात्पर्य केवल शारीरिक कार्य से ही नहीं है। संयम, मृदु भाषण, निश्छलता, धैर्य, शम, दम, अद्रोह आदि सम्पत्तियों से युक्त होने पर ही गुरुदेव की सेवा हो सकती है जो कि काफी कठिन बात है।

विजय दशमी का पर्व गुरुदेव के सभी बच्चों के लिये परम पावन दिवस है। इसी दिन गुरुदेव का यह रूप पृथ्वी पर प्रकट हुआ था। उनकी यह मानवाकृति रूप वर्तमान साधकों के लिये ही नहीं अपितु आने वाले असंख्य साधकों के लिये भी मुक्ति का कारण बनेगी। क्योंकि यह रूप चैतन्य रूप है इसी में ब्रह्म की प्रतिष्ठा है। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त तुकाराम कहते हैं- *"यदि तुम्हें गुरु चरणों में श्रद्धा है, गुरु चरणों में गहरी भावना है, यदि तुम गुरु की स्थिति को आत्मसात् कर सकते हो तो फिर तुम्हें प्रभु को ढूँढने की आवश्यकता नहीं, प्रभु तुम्हें ढूँढता फिरेगा। इसलिये गुरुध्यान करो, उन्हें अपने ध्यान में लाओ। ऐसा करने पर तुम गुरु की महान स्थिति को प्राप्त कर लोगे।"*

गुरुदेव के प्राकट्य दिवस पर उनके शिष्यों की उनके चरणों में यही श्रद्धाँजलि होगी कि वे उनके द्वारा उपदेशित मार्ग पर चलकर स्वयं को योगारूढ़ करलें तथा इस दिव्य मार्ग से मानव समाज को भी लाभान्वित करें जो कि गुरुदेव के इस भूमण्डल पर आने का प्रधान लक्ष्य है। शिष्य बनने का भी यही उद्देश्य है कि व्यक्ति गुरुपदिष्ट मार्ग पर चलकर उनकी प्रदत्त विद्या को आत्मसात कर उससे जगत् का कल्याण करें।

आइये इस अवसर पर नित्य वन्दनीय गुरुदेव के पावन चरणों में अवनत होकर हम संकल्प लें कि उनके शरीर धारण करने के उद्देश्य की पूर्ति के लिये मनसा कर्मणा एक होकर इस महान कार्य में जुट जायें।

***

शोक-संवेदना

पाठकों को यह सूचित करते हुए अपार दुःख है कि गुरुदेव के दीक्षित बालक ग्राम खिड़का (संसारपुर) सहारनपुर निवासी पं. मनीराम शर्मा का देहावसान गत १ जून २००० को हो गया है। उन्होंने अपने पीछे श्री वेदप्रकाशजी सहित पुत्र–पुत्रियों का भरा–पूरा परिवार छोड़ा है। श्री शर्मा 'सिद्धयोग' के आजीवन सदस्य थे। सिद्धयोग परिवार उनके निधन पर शोक संतप्त है और मृतात्मा की शान्ति के लिए प्रभु से हार्दिक–प्रार्थना करता है।

देहावसान

श्री गुरुदेव के श्रीचरणों में अनवरत लीन रहने वाले उनके अनन्य शिष्य टूण्डला निवासी श्री शीलाराम गुप्ता का गत २२ अगस्त २००० को देहावसान हो गया। वे ७६ वर्ष के थे और गले के कैंसर से पीड़ित थे। पिछले ५–६ माह से रोग की तीव्रता के कारण शैय्या पर ही थे। जन्माष्टमी को रात्रि लगभग ग्यारह बजकर दस मिनट पर उन्होंने अन्तिम श्वाँस ली।

सिद्धयोग परिवार परमपिता परमात्मा से श्री गुप्ता की आत्मा को शान्ति और परिवारीजनों को धैर्य धारण करने की शक्ति प्रदान करने की प्रार्थना करता है।

—संपादक

ब्रह्मचर्य और योग

ओ३म विश्वात्मा

योग भारतवर्ष की बहुत ही प्राचीन सम्पत्ति है। यह भारतवर्ष के गौरव एवं मान की वस्तु है। इसका प्रभाव धर्म और सम्प्रदायमात्र पर पड़ा है। भारतीय शास्त्रों में योग पर बड़ी-बड़ी रोचक, मनोहर एवं विचित्र कथाएँ लिखी हुई हैं। योग के सम्बन्ध में यहाँ वृद्धोक्ति और किंवदन्तियों की भी कमी नहीं है। यौगिक तत्वों पर भारतवर्ष में स्वतन्त्र ग्रन्थ भी बहुत लिखे गये हैं, जिनमें पातंजल योगदर्शन जैसा उत्तम दर्शन है जो भारतीय प्रधान छः दर्शन शास्त्रों में से एक दर्शन शास्त्र है। दार्शनिक विचार कितने ऊँचे, पवित्र और रहस्यमय होते हैं इसको कोई भी बुद्धिमान् पुरुष मान सकता है। दार्शनिक तत्व होने से ही योग की गहनता, महत्ता, दिव्यता का पता लग जाता है कि योग कितनी कठिन समस्या का नाम है। इस योग की महान् सिद्धि के लिये हमारे पूर्वजों ने हजारों वर्षों तक कितने ही प्रयत्न कितनी ही संख्याओं में किये हैं जिस पर भी उनमें से कोई एक ही योग की परम सिद्धि को प्राप्त कर सका है। इस विषय पर बातचीत करते हुए 'ॐ' से एक महात्मा ने कहा था कि 'गुल्बे' (एक प्रकार के सट्टे वा जुए) में तो सौ अंकों में से निन्नानवे अंक हार के एवं एक अंक जीत का होता है; परन्तु योग में तो हजार अंकों में से नौ सौ निन्नाने अंक हार के और एक अंक जीत का है। यद्यपि यह वाक्य व्यंग शब्दों में योग पर कुछ आक्षेप-सा मालूम होता है। परन्तु है यह बिल्कुल सत्य, जो गीता अ० ७ श्लो० ३ में बड़े ही सुघरे शब्दों में कहा गया है-

मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्वतः।।

'प्रयत्नशील हजारों पुरुषों में से कोई एक पुरुष ही योग की सिद्धि (यथार्थ मार्ग) को प्राप्त किया करता है और उस यथार्थगामी हजारों सिद्धों में से कोई एक ही मेरे तत्व को जाना करता है।' इस श्लोक में 'सिद्धये' और 'मां वेत्ति तत्वतः' शब्द योग के रहस्य और तत्व को बतला रहे हैं। प्रथम शब्द योग के कपाट खोलने की कुंजी है तो दूसरा शब्द योग की गुप्त गुहा में रखे हुए दिव्य ईश्वर रत्न को दिखाने वाला चक्षु है। 'सिद्धये' शब्द के आगे 'मां वेत्ति तत्वतः' आने से पता लगता है कि यहाँ योग के उसी मार्ग का नाम सिद्धि का जाना जाता है जिससे साधक ईश्वर के तत्व को भली प्रकार से जान जाया करता है। असत्य से दृष्टि को हटाकर सत्य पर जमा देना ही योग का सच्चा अर्थ है अर्थात् असद् विचार दृष्टियों को हटाना ही योग की यथार्थ सिद्धि और सत्य पर विचार दृष्टि को जमा देना ही भगवान को तत्व से जान लेना है जो साधक इस अर्थ को समझकर योग में लगता है वही योग के तत्व कोप्राप्त किया करता है, अन्य सब मार्ग में ही पड़े रह जाते हैं। जैसे कुछ साधक थोड़े दिन

साधना करके अपनी व्यग्रता एवं चंचलता के कारण साधन को ही छोड़ दिया करते हैं तो दूसरे कुछ अपनी अनियमितता के कारण रोगी होकर जीवन बिताया करते हैं। कुछ हठी दुराग्रही रोगी हो जाने पर भी मनमाने साधन में लगे रहा करते हैं। ऐसे दुराग्रही साधकों की चिकित्सा मृत्यु-मुख के सिवा कुछ भी नहीं होती। यदि कोई साधक इन सब कठिनाइयों से पार हो भी गया तो वह भौतिक सिद्धियों के फेर में पड़ जाया करता है। उपर्युक्त तीनों विघ्नों से सताये हुए असिद्ध साधकों का साधन संचय दूसरे जन्म में काम आ जाया करता है, क्योंकि वे अपने विघ्नों के लिये पश्चातापरूपी प्रायश्चित करते रहते हैं। परन्तु सिद्धियों का खोया हुआ साधक तो अपना सर्वस्व खोकर ही यहाँ से प्रस्थान किया करता है। जहाँ तीनों को अपने विघ्नों के लिये पश्चात्ताप हुआ करता है वहाँ इसको अपनी सफल सिद्धियों पर प्रसन्नता बढ़ती रहा करती है। यह अपना सर्वस्व लुटाकर भी बधाई बाँटने वाले के सदृश है।

उपर्युक्त सब विघ्न-बाधाओं एवं पापों से बचकर साधना करने वाले साधक का ही 'सिद्धये' शब्द से निर्देश किया गया है-वही सिद्ध साधक मेरे तत्वों को जाना करता है, यही भगवान् के उपर्युक्त वाक्य का अभिप्राय है। इस भगवान् को देखने, पकड़ने, पाने वाली सिद्धि को वही साधक प्राप्त कर सकता है जो 'संसार सत्य है' की भावना को मिटाकर योग में लगा करते हैं। जो संसार को सत्य मानकर उसकी पुष्टि (भोगप्राप्ति) के लिये योग में लगा करते हैं उन्हीं को उपर्युक्त व्यग्रता, अनियमितता, दुराग्रह आदि दोष, विघ्न तथा सिद्धि आदि पाप सताया करते हैं। सच तो यह है कि भोगों के लिये योग में लगना रोग और मृत्यु को पाना और भोगवासना को भस्म करने के लिये योग में लगना भगवान् को पा जाना है। यही योग साधन का मूल मन्त्र या सिद्धान्तबिन्दु है।

ब्रह्मचर्य

जिस योग की महत्ता, दिव्यता, गहनता तथा कठिनता, कठोरता और क्रूरता को ऊपर कहा गया है, जिसके अनुसार चलकर साधक ईश्वर की ज्योति में भी समा सकता है और मृत्यु का कलेवा भी बन सकता है, उस योग को यदि आप साध्य बनाना चाहते हैं तो सर्वप्रथम आप ब्रह्मचर्य का पालन कीजिये। ब्रह्मचर्य के बिना योग की सफलता का अंकुर वैसे ही नहीं उगा करता जैसे जल के बिना बीज। ब्रह्मचर्य के बिना योग वैसा ही है जैसे प्रकाश के बिना सूर्य और प्राण के बिना प्राणी। ब्रह्मचर्य की निष्ठा के बिना योग को दुना अपनी मौत को आप बुलाना है। अतः योग के जिज्ञासु का ब्रह्मचारी होना उतना ही आवश्यक है जितना कि जीवन के इच्छुक को प्राणी (प्राणवाला) होना आवश्यक है। ब्रह्मचर्य व्रत से युक्त साधक के प्राण स्वभाव से ही स्थिर रहा करते हैं। यही बात योग शास्त्र में भी कही गयी है कि **'स्थिरे बिन्दौ स्थिरः प्राणः'** वीर्य के स्थिर हो जाने से ही प्राण भी स्थिर हो जाया करते हैं। इस सिद्धान्त के पोषक वाक्य योगशास्त्र में सैकड़ों ही मिलते हैं।

जैसे-

सिद्धे बिन्दौ महादेवि किं न सिध्यति भूतले।

हे पार्वति ! बिन्दु के सिद्ध हो जाने पर ऐसी कौन-सी सिद्धि है जो साधक को प्राप्त न हो सके ? पातंजलयोग दर्शन में भी कहा है **'ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः'**। ब्रह्मचर्य की निष्ठा से वीर्य 'बिन्दु' की स्थिरता, ऊर्ध्वगति का लाभ प्राप्त होता है। हठयोगप्रदीपिका में कहा है कि-

ऊर्ध्वरेता भवेद्यावत् तावत् कालभयं कुतः।

जब तक साधक बिन्दु को ऊर्ध्वगामी रखता है तब तक उसको काल-मृत्यु-प्राणक्षय का भय नहीं है। अथर्ववेद में भी कहा है कि-

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।

ब्रह्मचर्य रूप तप से देवों ने मृत्यु को मार डाला। शिवसंहिता में महादेव कहते हैं-

मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।

बिन्दु का पतन ही मृत्यु और बिन्दु का धारण-स्थिरता ही जीवन है। आगे फिर कहा है कि, **'अहं बिन्दुः शिवो बिन्दुः'** मैं बिन्दु हूँ, शिव ही बिन्दु है। आगे फिर पार्वती से कहते हैं कि, हे पार्वति ! मैं बिन्दुजय से ही शिव पद को प्राप्त कर सका हूँ। इस बिन्दु के धारण से ही तो ॐ का ॐकार ईशत्व को प्राप्त हो गया है। उसके मत्थे परसे बिन्दु को हटाकर देखिये कि वह फिर भी ॐ रहता है या नहीं। वह बिन्दु हटते ही ईशत्व से च्युत हो जाता है। बिन्दु धारण ही उसको ईशत्वपद दिये हुए है। अस्तु, जब योग के जन्मदाता मुख्याचार्य शिव को शिवत्व ही बिन्दु धारण से प्राप्त हुआ है, जब योग के प्रदाता ईश्वर के प्रथम नाम ॐ के ओमत्व का कारण भी बिन्दु धारण ही है तो फिर साधारण ब्रह्मचर्य हीन पुरुष योगसिद्धि शिवत्व को प्राप्त हो सकेगा, यह बात असम्भव से भी दुस्तर है। दुस्तर ही नहीं अपितु अपनी मौत को निमन्त्रण देना है। उपर्युक्त विवेचन से आपको दो बातों का पता लगेगा। एक, ब्रह्मचर्य बिना योग का साधन करना अपने को रोग और मौत के मुख में भेज देना है और दूसरे, मरने वाले मिथ्यात्व से छूटना शिवत्व को प्राप्त करना है। यही योग शब्द का सच्चा तत्वार्थ है। ॐ के मतानुसार इस अर्थ को लेकर योग साधन में लगने वाला साधक ही योग मार्ग की कठिनाइयों से पार पहुँचा करता है।

आप ऊपर यह तो समझ ही चुके हैं कि ब्रह्मचर्य से हीन साधक योग मार्ग में सफलता नहीं पा सकता है। ब्रह्मचर्य ही योग-सफलता की कुंजी है। यही नहीं, अपितु ब्रह्मचर्य ही विश्वमात्र की सफलताओं का बीज है। फिर यह सफलता चाहे भौतिक हो या आध्यात्मिक। यही कारण है कि हमारे पूर्वजों ने मनुष्य-निर्माण की अवस्था का नाम ही ब्रह्मचर्य रखा है। इस अवस्था को पूर्णरूप से निभाने वाला पुरुष सफलता का भण्डार ही हुआ करता है। इस तत्व का पता हमको ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ समझने से ही लग जाता है।

ब्रह्मचर्य शब्द का तत्वार्थ

ब्रह्मचर्य का शब्दार्थ समझना बहुत कठिन है। बहुत से लोग ब्रह्मचर्य का अर्थ आजन्म क्वाँरा रहना या जटाजूट आदि भेष बनाकर फिरना मात्र ही मान लेते हैं। सचमुच ब्रह्मचर्य

का इतना अर्थ लेना ब्रह्मचर्य की हत्या करना है। ब्रह्मचर्य का सम्बन्ध न तो कुंवारेपन से है और न किसी वेष-भूषा से ही है। स्थूलार्थ में ब्रह्मचर्य का अर्थ वीर्य निरोध या काम दमन से ही है। परन्तु इतना समझने से भी ब्रह्मचर्य का अर्थ पूरा नहीं होता। ब्रह्मचर्य का पूरा अर्थ होता है वीर्य को रोकना, वेद ज्ञान को पाना, सत्-चित् आनन्द ब्रह्म में समाना। वीर्य एक दिव्य तेज का नाम है। जैसे कि शतपथ ब्राह्मण में कहा है, **'वीर्य वै भर्गः'** वीर्य ही तेज, आभा, प्रकाश है। इस वीर्यरूप ब्रह्म के दीपन से ही ब्रह्म-वेद के तत्वज्ञान का दर्शन और वेदतत्व के ब्रह्म दीपक से सत्-चित् आनन्द ब्रह्म का साक्षात्कार हुआ करता है। यह ब्रह्मत्रय संगम ही ब्रह्मचर्य का पूरा तत्वार्थ है। इस ब्रह्म-त्रिवेणी का स्नाता पुरुष ही योग का सच्चा अधिकारी हुआ करता है।

ब्रह्मचर्य की श्रेणी

हमारे शास्त्रों में वीर्य के बीजत्व, वीरत्व, ओजस्, बल, तेज, शुक्र, पवित्रता, रेत, रेतस्, कान्ति, बिन्दु, भर्गादि नाम कहे हैं और वीर्य को ही सृष्टि का उत्पादक, पालक, संहारक भी कहा है। परन्तु योग शास्त्र में वीर्य को ब्रह्म बिन्दु-ब्रह्म बीजतक कहा गया है। महादेव ने योगशास्त्र में कहा है कि **'अहं बिन्दु रजः शक्तिः'** मैं (महादेव) बिन्दु वीर्य हूँ और रज शक्ति (पार्वती) है। योगशास्त्र में कहा है कि साधक के नाभिस्थान में रज और मस्तक के मध्य केन्द्र में वीर्य बिन्दु रहा करता है। रज का सिन्दूर वर्ण और वीर्य का श्वेत वर्ण है। रजरूप पार्वती को नाभि से उठाकर मस्तक में मिला देना ही योगसिद्धि का सफल रहस्य है। इस कथन में बहुत बारीक वैज्ञानिक तत्व छिपा हुआ है। ब्रह्मचर्य का ब्रह्म शब्द भी वीर्य और ब्रह्म के अभेद्य सम्बन्ध को अभेद्य रखने वाला साधक ही प्रथम श्रेणी का ब्रह्मचारी होता है। इस ब्रह्मचारी का अर्हंबिन्दु अपने स्वभाव सिद्ध स्वरूप ब्रह्म में ही स्थिर रहा करता है। अर्थात् ऐसे ब्रह्मचारियों को यह भी मालूम नहीं होता कि हमारे वीर्य तन्तुओं में संसार से सम्बन्ध रखने वाला कोई वीर्यरूप पदार्थ है या नहीं। उसका ब्रह्मबिन्दु सब तरह के कम्पनों से रहित सदा स्थिर रहा करता है।दूसरी श्रेणी के ब्रह्मचर्य वाले साधक के ब्रह्मबिन्दु में कम्पन तो अवश्य उठा करता है परन्तु वह अपने कठोर संयम बल और भीष्म-प्रतिज्ञा द्वारा ब्रह्मबिन्दु के उन कम्पनों को ब्रह्मबिन्दु की ओर ही ढकेल दिया करता है। यह भूमिका साधक के लिये बहुत ही कठिन कसौटी की है।

तीसरी श्रेणी के ब्रह्मचर्य वाले ब्रह्मचारी (साधक) के ब्रह्म बिन्दु में सृजन-कम्पन उठा करते हैं, उन्हें वह ईश्वर का सृष्टि-सृजन आदेश समझकर सन्तान-उत्पत्ति में बदल दिया करता है। वह इस सृजन के ध्येय से ही गृहकार्य में प्रवृत्त हुआ करता है। वह ब्रह्म की उस ब्रह्मबिन्दु में होने वाली **'एकोऽहं बहु स्याम्'** की सांकेतिक सूक्ष्मान्तर दिव्य वाणी को सुना करता है जो उसको कहती है कि चल, तू भी मेरे बहुत होने के कार्य में सम्मिलित हो जा। ईश्वरीय आज्ञा का पालक और विषयासक्ति से रहित

होने से यह साधक भी ब्रह्मचारी ही होता है। ऐसे साधकों के सृजन-कार्य में ईश्वरीय सृजन-प्रेरणा ही कार्य करती है।

प्राकृतिक धक्के के सिवा साधक का उससे कुछ भी नहीं . बनता-बिगड़ता। इस प्राकृतिक धक्के को पशु-पक्षी आदि अभी तक खूब अच्छी तरह से समझते हैं। वे बारहों मास स्त्री-पुरुष की भावना से रहित होकर विचरा करते हैं, जब उनको यह ईश्वरीय प्राकृतिक संकेत मिलता है तभी वे स्त्री-पुरुष में बदल जाया करते हैं। इस प्राकृतिक संकेत का वैज्ञानिक बोध ही पशु-पक्षी आदि में बन्ध्यात्व के अभाव का कारण है, धन्य है इन पशु-पक्षी आदि को जो अभी तक उस सृजन-विज्ञान ऋतुकाल के रहस्य को समझते हैं। जो साधक इस ईश्वरीय संकेत को पाकर अनासक्त भाव और निष्काम बुद्धि से सावधान हुए शास्त्रानुकूल सृजनकार्य किया करते हैं वे ब्रह्मचारी ही नहीं अपितु ईश्वर के आज्ञापालक ही हुआ करते हैं। उनका यह कार्य वैसा ही हुआ करता है जैसा कि कोई पुरुष इधर से वस्तु लेकर उधर दे दिया करता है। ऐस साधकों के काम को ही तो भगवान् गीता में अपना स्वरूप बताते हैं, जैसे कि **'प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः' 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।'** (सृजन धर्म के अनुसार सन्तान बनाने वाला काम मैं ही हूँ)। उपर्युक्त तीनों ब्रह्मचारी ब्रह्म के उपासक हैं। प्रथम ब्रह्मलीन, ब्रह्मस्थित, ब्रह्मरूप कहा जाता है। दूसरा योगी होता है, और तीसरा भगवान् का परम प्रिय भक्त कहा जाता है। ईश्वर भारत में ऐसे ब्रह्मचारियों को जन्म दे जिससे कि योग को पुनर्जीवन मिल सके।

***

मेरे लीलाधारी प्रभु

प्रभु क्या जाने तुम क्या करते हो ?

किसका मन किसके द्वारा तुम, किस विधि से हरते हो।।
किसको क्या प्रदान करते हो, किसका क्या हरते हो।
कभी उलट कर कभी पलट कर, ज्यों का त्यों करते हो।।
किसका मुकुट किस तरह लेकर, किसके सिर धरते हो।
कभी-कभी बन कर पत्थर तुम, पानी पर तिरते हो।।
भरे घटों को खाली करते, खाली घट भरते हो।
'भुवनइन्द्र' अब तक नहिं समझा, क्यों ऐसा तुम करते हो ?

—भुवनेन्द्र झा

आत्म–विज्ञान

तत्वदर्शी महात्मा श्रीतैलंग स्वामी का उपदेश

आत्म-विज्ञान अथवा आत्म-बोधका अभिप्राय है अपने को जान लेना–पहचान लेना। मैं यदि अपने को जान सकूँ तो भगवान् को भी जान सकता हूँ। मैं जब तक अपने को न जानूँगा, तब तक भगवान् को जानने के लिये प्रयत्न करके भी न जान सकूँगा। मैं क्या हूँ–यह जानने के लिये आत्मा, मन और बुद्धि–इन तीनों पदार्थों का तत्व ज्ञान लेना आवश्यक है। यह निश्चय समझ लेना चाहिये कि एक आत्मा शरीर की प्रधान वस्तु अथवा स्वामी या कर्ता है। जैसे सूर्य पृथ्वी का कर्ता है, वह प्रकाश देता है और उस प्रकाश के आश्रय में सब जीव अपना-अपना कार्य करते हैं, किंतु सूर्य जिनमें कुछ भी नहीं करता, उसी प्रकार मनुष्य-शरीर में आत्मा भी सूर्य स्वरूप कर्ता है और प्रकाश देता रहता है। उस प्रकाश के आश्रय में इन्द्रियाँ अपना कार्य करती रहती हैं, किंतु-आत्मा निज में कुछ नहीं करता।

अब देखना चाहिये कि आत्मा साकार है या निराकार और वह देह के किस स्थान में किस भाव से रहता है। आत्मा सर्वव्यापी है अवश्य, किन्तु उसका कोई विशेष आकार नहीं है। तुम्हारा आत्मा और मेरा आत्मा एक ही पदार्थ है। जिस प्रकार एक कागज के ऊपर भाँति-भाँति के चित्र अंकित रहने पर भी उन विभिन्न चित्रों का आधार वही एकमात्र कागज है, उसी प्रकार इस जगत् में सबका आत्मा एक ही है। कुछ दिनों तक एकाग्रचित्त से आत्मा को जानने का प्रयत्न करने पर अवश्य ही यह अनुभव हो जायेगा कि आत्मा अग्नि के कण-सदृश हृदय में विराज रहा है। आत्मा के ही परमात्मा है, जो परमात्मा है वही ईश्वर है। यह जान लेना चाहिये कि आत्मा रूपविशेष है, इसलिये प्रयत्न करने पर उसका दर्शन हो सकता है। महापुरुष उसे देख चुके हैं और देख रहे हैं। आत्मा के जानने से अपने को जाना जाता है। आत्मा को परमात्मा का अंश समझना चाहिये इसलिये आत्म-विज्ञान ही परमात्मा को जानने का मुख्य द्वार है।

मन और बुद्धि साकार है या निराकर–यह जानने की बहुतों की इच्छा हो सकती है। मन एक सीमाबद्ध स्थान में व्याप्त है, अतएव वह निश्चय ही वस्तु-विशेष है। सभी कहते हैं कि मेरा मन यह कहता है, तुम्हारा मन वह चाहता है आदि और प्रत्येक मनुष्य के पृथक् कार्यों से भी यह समझा जाता है एवं मन के कार्य भी सर्वथा भिन्न हैं। यह विचारकर देखने से भलीभाँति समझ में आ जाता है, अतएव मन साकार है।

साधारणतया स्थूल-इन्द्रिय की सहायता के बिना द्रव्य के आकार की उपलब्धि नहीं की जा सकती एवं स्थूल-इन्द्रिय के द्वारा उपलब्धि न होने के कारण मन का आकार किस प्रकार का है, यह सहज में नहीं समझा जा सकता। आकार की बात का यथार्थ अभिप्राय ज्ञात हो जाने पर किसी के भी मन में संदेह नहीं रहेगा। एक बार विचार कर देखो कि तुम्हारा मन तुम्हारी देह से सर्वथा भिन्न वस्तु है और उससे कोई स्थान व्याप्त नहीं है। इसीलिये मन का कार्य भी पृथक् है। प्रयत्न करने पर यह सुगमता से समझ में आ जायेगा।

बुद्धि भी जगद्व्यापी नहीं है, अपितु किसी सीमाबद्ध स्थान में है, इसलिये वह भी वस्तु-विशेष ही है। प्रत्येक की बुद्धि भिन्न-भिन्न है, इसीलिये कहा जाता है कि सबकी बुद्धि समान नहीं होती और जिसमें बुद्धि कम हो उसे लोग बुद्धिहीन कहते हैं। अतएव बुद्धि की स्थान व्यापकता सिद्ध है। अच्छे-बुरे का विचार करना बुद्धि का कार्य है। मन और बुद्धि के रहने का स्थान मस्तक है और बुद्धि जीव-शरीर में दर्पण रूप है।

एक प्रणव-मन्त्र से ही इस जगत् की सृष्टि, स्थिति, लयरूप कार्य चल रहे हैं। प्रणव-मन्त्र का देवता अग्नि है। हिन्दुओं का यह समझा हुआ सिद्धान्त है कि इस अग्निगत शक्ति से ही यह जगत्-चक्र घूम रहा है। वे ऐसा कभी नहीं सोचते कि यह अग्निगत-शक्ति चैतन्य-सम्बन्ध रहित है। हिन्दुओं के लिये प्रणव-मन्त्र का लक्ष्य अग्निगत शक्ति ब्रह्मचैतन्य-चेतना-युक्त है।

जब तक मेरी अंगुली विच्छिन्न नहीं, तब तक वह चेतनामय है। अँगुली काटकर फेंक दी जाने पर वह मुझसे विच्छिन्न हो गयी, उस समय उसमें चेतना नहीं रहती। तब वह अचेतन जड़-पदार्थ है। यह समग्र विश्व चैतन्यमय पुरुष की देह है। भिन्न-भिन्न शक्तियों के आधार, जैसे अग्नि, वायु, नदी, पर्वत और मृत्तिका आदि उस देह के अंग-विशेष हैं। अग्नि को यदि उस एक चैतन्य पुरुष से विच्छिन्न भाव में न देखो तो यह समझ लोगे कि अग्नि में चेतना है और जो अग्नि के साथ उस चैतन्यमय का कोई सम्बन्ध देख नहीं पाते, उनके लिये अग्नि जड़ पदार्थ है।

आत्मा सर्वदा सर्वगत होने पर भी सर्वत्र प्रकाशित नहीं होता, केवल निर्मल बुद्धि में प्रकाशित होता है। सब इन्द्रियों के अपने-अपने कार्य में व्याप्त रहने से अविवेकी लोगों को प्रतीत होता है कि आत्मा ही समस्त कार्यों में व्याप्त हो रहा है। वह बादलों के दौड़ने से दौड़ते हुए चन्द्रमा के समान जान पड़ता है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि ये चैतन्यस्वरूप आत्मा के आश्रय से कार्य में प्रवृत्त रहते हैं, जैसे सूर्य के प्रकाश के आश्रय में मनुष्य कार्य करते हैं।

राग, इच्छा, सुख, दुःखप्रभृति प्रवृत्तियाँ बुद्धि की ही वस्तुएँ हैं, आत्मा की नहीं। इसका प्रत्यक्ष कारण यह देखा जा सकता है कि सुषुप्ति-काल में आत्मा रहता है, किंतु बुद्धि के न रहने से इच्छा, रागप्रभृति उस समय कोई भी नहीं रहते, जिस प्रकार सूर्य का स्वभाव प्रकाश, जल का स्वभाव शीतलता एवं अग्नि का स्वभाव उष्णता है, उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव सत्य, चैतन्य, आनन्द, नित्यता और निर्मलता है। आत्मा की सर्वत्र वर्तमानता, चैतन्य के अंश और बुद्धि वृत्ति-इन तीनों के संयोग से अविवेक द्वारा मैं जानता हूँ कि मैं कर रहा हूँ, इस प्रकार की भावना होती है।

बुद्धि यह कभी नहीं बोध कर सकती कि आत्मा में विकार नहीं है। यह जीव-समुदाय वस्तु को जानकर मैं ज्ञाता हूँ, मैं द्रष्टा हूँ- इस ज्ञान में मुग्ध हो रहा है। जिस प्रकार रज्जु को सर्प समझ लेने पर सर्प-जन्य भय होता है, किन्तु रज्जु का ज्ञान हो जाने पर फिर भय नहीं रहता, इसी प्रकार आत्मा को जीव समझना ही भय का कारण है। मैं जीव नहीं हूँ, मैं परमात्मा हूँ- यह ज्ञान हो जाने पर भय नहीं रहता। एक आत्मा ही बुद्धि-प्रभृति को तथा इन्द्रियों को प्रकाशित करता है। अचेतन बुद्धि-प्रभृति एवं इन्द्रियाँ आत्मा को प्रकाशित नहीं कर सकतीं।

अविद्या से उत्पन्न शरीरादि जो सब दृश्य वस्तुएँ हैं, वे पानी के बुदबुदे की तरह नाशवान् हैं।

इन सब वस्तुओं से अतीत जो निर्मल ब्रह्म है, वही मैं हूँ, यही धारणा दृढ़ करो। मैं देह नहीं हूँ और देह मेरी नहीं है। मैं देह से पृथक हूँ, इसीलिये जन्म, जरा, कृशता और मृत्यु आदि जो देह में सब धर्म हैं, वे मेरे नहीं हैं और सब इन्द्रियाँ भी मेरी नहीं है। इसलिये उनके विषयों और कार्यों से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है।

मेरा मन नहीं है, इसीलिये दुःख, राग, द्वेष, भय प्रवृति जो कुछ मन के कार्य हैं, वे मेरे नहीं हैं। यह वेद-प्रसिद्ध है कि मैं अप्राण हूँ, मैं अमल एवं शुद्ध आत्म-स्वरूप हूँ। निर्गुण, क्रियारहित, नित्य जो आत्मा है, मैं वही हूँ। मेरा कोई आकार या विकार नहीं। मैं चिरकाल से मुक्त हूँ। जब मेरा कोई क्षय नहीं- कोई संसर्ग नहीं, तब मैं अचल, सर्वदा शुद्ध और निर्मल हूँ एवं आकाश की भाँति समभाव से सब वस्तुओं में बाहर और भीतर व्याप्त हूँ।

जो व्यक्ति 'मैं ही ब्रह्म हूँ' सदा यह वासना रखता है, उसके निकट सभी सृष्ट वस्तुएँ विनष्ट हो जाती हैं। ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय- ये सभी भेद परमात्मा में नहीं हैं। वह चैतन्यमय आनन्दस्वरूप के एक रूप में स्वयं देदीप्यमान है।

जिस प्रकार एक आकाश को घटादि उपाधि-भेद से घटाकाश-प्रभृति नाम देकर भिन्न-भिन्न समझा जाता है और घटादि के फूट जाने पर एक आकाश ही रहता है, उसी प्रकार एक परमात्मा नाना उपाधियों के भेद से पृथक्-पृथक् जान पड़ता है। उपाधि का विनाश होने पर एकमात्र परमात्मा ही रह जाता है। परमात्मा भिन्न-भिन्न नहीं है। जिस प्रकार लवणादि रस, किंवा रक्तादि वर्ण जल में मिश्रित होने पर लवणादि रस किंवा रक्तादि वर्ण प्रभेद से जल में दस लवणादि रस किंवा रक्तादि वर्ण का आरोप होता है, उसी तरह नाना प्रकार की उपाधिवश जाति, नाश और आश्रम-प्रभृति सभी वस्तुएँ परमात्मा में आरोपित होती हैं।

जिस प्रकार धान को कूटकर तुष आदि से अलग कर दिया जाता है, तो उसका स्वरूप तण्डुल-मात्र रह जाता है, उसी प्रकार शरीरादि से आवृत परमात्मा को युक्ति द्वारा शरीरादि से पृथक् करने पर शुद्ध स्वरूप प्रकाशित होता है। जिस प्रकार उष्णता अग्नि को आश्रय किये हुए है, उसी प्रकार इन्द्रियादि जड़ वस्तु समूह अद्वितीय, निश्चल और नित्यज्ञान-स्वरूप आत्मा को आश्रय करके अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त है। उसे सर्वान्तर्यामी ज्ञानमय नित्य आत्मा समझना चाहिये। आत्मा मैं ही हूँ। 'मैं' कहने से और कोई पदार्थ नहीं समझा जाता। 'मैं' ही वह हूँ अथवा वही 'मैं' हूँ। उससे भिन्न मैं कुछ नहीं हूँ, मेरा कुछ नहीं है। सब कुछ नहीं है। सब कुछ वही है और सभी कुछ उसका है।

मनुष्यरूप तृण वासनारूप वायुद्वारा इधर-उधर उड़ते हुए जन्म जन्मान्तर में दुःख भोग रहे हैं। 'यह मेरा है, यह मेरा नहीं है'-इत्यादि प्रकार का भ्रम-ज्ञान ही संसार-बन्धन का कारण है। 'मैं' कहने से आत्मा के सिवाय और कुछ नहीं है। सब ब्रह्म है, इस प्रकार ज्ञान उत्पन्न होने पर आत्मा मुक्त हो जाती है। यह उपाय अपने ही अधीन है। इसके रहते हुए भी असीम सांसारिक यन्त्रणाएँ भोगनी पड़ें तो यह बड़े ही परिताप का विषय है।

❊❊❊

हे गुरुदेव ! तुम्हें कोटिश ! नमन

राजेश कुमार श्रीवास्तव (राजू)

गुरुपूर्णिमा का पर्व था। रेलवे रोड स्थित योग साधन आश्रम ऋषिकेश में आज प्रातःकाल से ही बड़ी चहल-कदमी थी। गुरुभक्तों का ताँता लगा हुआ था। योगाधिपति महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज अपने सम्पूर्ण योग-ऐश्वर्य से सुशोभित हो रहे थे। समस्त देवी-देवता अपने-अपने कार्यों की चिन्ता त्याग श्री प्रभुजी की पूजनार्थ चेष्टाओं में निमग्न थे। सद्गुरु अनुग्रह बिना देवी-देवता भी अपने कर्तव्य कर्मों का निर्विघ्न पालन नहीं कर सकते। गुरु पुर्णिमा के शुभ अवसर पर प्राप्त होने वाले सद्गुरु आशीर्वाद का महत्व ही बड़ा अनुपम होता है।

सुबह प्रातः ही श्री महाप्रभु जी सर्वप्रथम माँ गँगाजी की शोभा बढ़ाने पहुँचे। जन-जन को पापों से मुक्त करने वाली माँ गंगा की खुशी का तो कहना ही क्या ! जिनकी आज्ञा को शिरोधार्य कर माँ असंख्य मलिन चित्त पृथ्वी वासियों के कल्याणार्थ अपनी विराट देह के प्रबल प्रवाह को लेकर प्रकट हुईं। आज उन्हीं योग योगेश्वर महा प्रभुजी के पावन चरण कमलों की वे कब से, अतीव उत्साह-आनन्द से भरकर प्रतीक्षा कर रहीं थीं। प्रातः ही व्यास पूजा के अवसर पर उन 'महागुरु' के श्री चरणों की पावन रज को अपने शीश पर धारण कर वे परमानन्द की विपुलता में अपनी सुध-बुध खो रहीं थीं। इस असीमित आनन्द को बाँध पाने में उनका विशाल हृदय-आँगन भी अति लघु प्रतीत होता था। उनकी प्रसन्नता का ठिकाना नहीं था। बरफ सी अति शीतल गंगाजल की लहरें हर्षोद्रेक में असंख्य शिलाखण्डों से परिहास करती हुई बार-बार अपने तट से टकरा-टकरा कर पुनः उसी वेग से लौट जाती थीं। लगता था जैसे माँ भागीरथी गुरु पूजन करके आनन्द में झूम-झूम कर नृत्य कर रही हों। इस मनुहारी छटा को देखकर, माँ गंगा के सैंकड़ों भक्त अति रोमांचित होकर इस प्रकार डुबकियाँ लगा-लगा कर स्नान कर रहे थे जैसे 'माँ' के नृत्य को अपनी ताल दे-देकर माँ के साथ एकाकार कर रहे हों।

आश्रम के ऊपर नील गंगल में बादल घिर आये थे। हल्की-हल्की जलवृष्टि करके स्वर्ग लोक के स्वामी इन्द्रदेव, उन योगेश्वर, कलिकाल में सज्जन पुरुषों के एक मात्र आश्रय, स्वयं परात्पर, ब्रह्म श्री महाप्रभुजी को अपनी उपस्थिति जता कर, प्रभु-पूजन हेतु अपनी आतुरता प्रकट कर रहे थे। प्रभुकृपा संकेत पाते ही उसने अनेक सुरगणों के साथ 'महागुरु' का अभिषेक किया और सानन्द पुष्पवृष्टि की।

दूसरी ओर आश्रम के खुले प्राँगण में उन्मुक्त स्वच्छन्द विचरण कर रहे वायुदेव अपने शीतल झोंकों से उन 'महागुरु' की दिव्य देह का पुनःपुनः स्पर्श करके समूचे वातावरण को श्रीमहाप्रभुजी की दिव्य सुगन्ध से मन मोहक बना रहे थे।

असंख्य रत्नों की जननी, सर्वभूतों के अज्ञान से उत्पन्न पाप सागरों का भार सहन करते हुये भी अपने पुरुषार्थ कर्म में अचल रहने वाली प्राणीमात्र की पोषक माँ 'अचला' ने गुरुभक्तों के लिए गुरुपूजन हेतु रंग-बिरंगे अनेक प्रकार के सुगन्धित पुष्पों और फलों का प्रबन्ध कर दिया था। उन्हीं फूलों की सुगन्ध में रच-बस कर वे प्रभु-कण्ठ की शोभा करने के लिए, अति आतुर हो गुरु भक्तों की प्रतीक्षा में अधीर हो रही थी।

निर्धारित समय पर गुरुपूजन कार्यक्रम शुरू हो गया था। श्रद्धालुगण पुष्पहार तथा विविध पूजन सामिग्री संग्रह से सजे सुन्दर चमकते थालों को अपने-अपने हाथों में लेकर निकल पड़े थे। कोई श्री प्रभुजी को सुन्दर वस्त्राभूषणों से अलंकृत कर रहा था, कोई पुष्पहार समर्पित करके ही सन्तुष्ट था। अनेक प्रभु- प्यारे स्त्री- पुरुष समन्वित भावना से आनन्दकन्द श्री प्रभुजी को मोर मुकुट पीताम्बर धारण करा कर उनका पूजन कर रहे थे। तब वे महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज लोगों की श्रद्धायुक्त भावनानुसार योगेश्वर श्री कृष्ण चन्द्रजी के ही स्वरूप में विराजमान होकर उन्हें अपनी कृपावृष्टि से उपकृत कर रहे थे। श्री महाप्रभुजी बड़ी प्रसन्न मुद्रा में आह्लादित होकर सबको दिव्य आशीष प्रदान कर रहे थे। अपने कंठ की पुष्प मालाओं को निज बच्चों के गले में डाल कर उनका मान बढ़ा रहे थे और उनकी समस्त भेंटों को सहर्ष स्वीकार करते जाते थे।

इस हर्ष-उल्लास के वातावरण में सभी जन अपने-अपने कार्य सम्पादन में व्यस्त थे। इन उल्लसित तमाम चेहरों में एक चेहरा अत्यन्त गम्भीर और शान्त मुद्रा में अपनी अनुपम झलक लिए यदा-कदा लोगों की दृष्टि में आ जाता था।

१५-१६ वर्ष का यह भोली और सौम्य सूरत वाला बालक आश्रम के एक कौने में खड़ा-खड़ा बड़ी तल्लीनता से इस भव्य कार्यक्रम को देख रहा था। उन 'परमगुरु' के पावन चरणों में यह उसकी प्रथम गुरुपूर्णिमा थी। घनीभूत उत्सुकता के लक्षण उसके चेहरे पर स्पष्ट उभर आये थे। जिसने उसके मुखण्डल की सौम्यता को और अधिक बढ़ा दिया था। इस योग निधि-आँगन में यह नया-नया ही अनुभव था। योग विद्या क्या है ? आदि जिज्ञासायें उसके मन में 'योग' के प्रति गहरी आस्था बनाए हुई थीं। आश्रमवासियों के चमत्कृत ध्यानानुभव उसके अन्तःकरण में भारी उथल-पुथल मचाते थे।

इस महान पर्व से कुछ समय पूर्व आश्रम के वरिष्ठ ब्रह्मचारी श्री मुलखराज जी (हमारे पूज्यपाद गुरुदेव जी) ने इस बालक में योग विज्ञान के प्रति गहरी आस्था को देखकर बड़े मधुर स्नेह से प्रभु चरण कमलों के दर्शनार्थ ऋषिकेश आश्रम में पहुँचने का शुभ अवसर प्रदान कर दिया था। प्रथम बार जब यह बालक आश्रम में प्रविष्ट हुआ तो हृदय में अति उल्लास और कौतूहल लिये हुये था। प्रभु दर्शन मात्र से ही परम शान्ति और आनन्द की प्रतीति हुई। महाप्रभुजी आश्रम के सामने वाले कमरे में (जो वर्तमान में 'प्रभु दरबार' के रूप में जग प्रसिद्ध हो रहा है) दाहिनी ओर स्थित पलंग पर विराजमान थे। आश्रम में चारों ओर गहरी शान्ति और निस्तब्धता व्याप्त थी। बालक का सिर

अनायास ही प्रभु चरणों में झुक गया। रोम-रोम अतिशय आनन्द से पुलकित होने लगा। श्री महाप्रभुजी ने सप्रेम उन्हें अपने श्रीचरणों में बिठा लिया। बड़ी प्रसन्नता से बालक की ओर निहारा जैसे उसी की प्रतीक्षा कर रहे थे। अपूर्व आनन्द की उत्ताल लहरें श्री चरणों में कुछ निवेदन करने के लिए बालक मन को बार-बार व्याकुल व अधीर कर रहीं थीं। बालक के कृष्ण दर्शन तृप्ति कंठ से याचना भरे स्वरमोती कृष्ण प्रेम की मधुर खनखनाहट लिए आश्रम के वातावरण में बिखर पड़े। जिन्हें महाप्रभुजी ने अति चाव से सुना, आश्रम के कण-कण ने सुना, हम सबने सुना और एक दिन शीघ्र ही अब समग्र विश्व सुनेगा-

"गुरुजी, मुझे 'योग' सिखाइये।"

'महागुरु' ने बालक के याचनापूर्ण निवेदन में सिमटी महान विनम्रता तथा सदाचार का अहसास किया किन्तु गम्भीर होकर कहा-

"बेटा ! योग तो हम सिखा देंगे किन्तु तुम्हारे घर के क्या कहेंगे तुम अभी बच्चे हो। अभी तो तुमको पढ़ना चाहिए। जा गंगा किनारे घूम आ।"

श्रीमहाप्रभु जी का उत्तर सुनकर बालक के मन में उठी हुई असंयमित हलचल अचानक शान्त हो गई। बालक एकदम चुप हो गया। प्रत्युत्तर में कुछ न कहकर, वह गंगा किनारे घूमने चला गया। दूसरे दिन पुनः अति आतुर होते हुए-

"गुरुजी, मुझे आप कृपाकर ऐसा योग सिखाइये कि चटपट भगवान श्रीकृष्ण मिल जायें।" सुनते ही श्रीमहाप्रभुजी हँस पड़े। बड़े प्यार से कहने लगे-

"अरे बेटा ! कुछ दिन यहाँ रह कर यहाँ के वातावरण से तो कुछ सीखो। अच्छा, ऐसा कर अभी तो तू गंगा किनारे घूम आ। लौटकर भोजन अवश्य कर लेना। बाद में तेरे योग की भी अवश्य सोचेंगे।

श्रीमहाप्रभुजी के वचनों से आश्वस्त होकर बालक अब निश्चिन्त हो गया था। उन महावतार 'परम दयानिधि' के समक्ष एक रोज उसने करबद्ध विनीत शब्दों में पूछ लिया-

"गुरुजी ! जीवन में गुरु का महत्व वास्तविक अर्थों में क्या होता है ?"

'गुरु गीता' में शंकर जी द्वारा उल्लेखित 'गुरु' शब्द का शुद्ध अर्थ प्रकट करने वाले विश्व विश्रुत श्लोक का वर्णन करते हुए उन गुरुओं के भी गुरु ने अपने मुखार विन्द से कहा-

गु शब्द स्त्वन्धकारोस्ति रू शब्दस्तान्निरोधकः।
अन्धकार निरोधित्वाद गुरुरित्याभिधीयते।।

देखो बेटा ! एक बार ऋषियों की सभा में सूतजी ने गुरु का स्वरूप समझाते हुये कहा था-"गु शब्द अन्धकार से तथा रू शब्द प्रकाश से सम्बद्ध है। अन्धकार ही अज्ञानता है जिसका परिणाम घोर दुःख है। 'प्रकाश' ही 'ज्ञान' है जिसका वास्तविक अर्थ है दुःख का समूलोन्मूलन अर्थात्

'परम सुख'। गुरुदेव अन्धकार का नाश करके प्रकाश करने वाले होते हैं। इसीलिए वे 'गुरु' कहलाते हैं। 'गुरु' के स्वरूप में अन्धकार निवारण की पूर्ण शक्ति निहित रहती है। किन्तु साधक के लिए अनिवार्य है कि उसे आत्म बल समन्वित कोई पूर्ण सिद्ध गुरु ही प्राप्त हों तभी बात बनती है।

कुछ दिनों बाद एक रोज शाम की आरती से पूर्व श्री महाप्रभुजी अपने आश्रम में आश्रय पाने वाले साधकों के ध्यानानुभव पूछ रहे थे। उचित अवसर पाकर इस बालक ने प्रार्थना की–

''गुरुजी ! मैं कुछ निवेदन करूँ ?''

हमारे दादा गुरुदेव परमानन्दकन्द श्री महाप्रभुजी अपने आश्रम में प्रवचन-उपदेश आदि प्रायः कम ही करते थे। अपने सदाचरण युक्त कार्य व्यवहारों की सांकेतिक भाषा में वे अपने साधकों को सब कुछ सिखला दिया करते थे। आश्रम में अनेक प्रकार की साधनाओं में 'ध्यानसाधना' की ही प्रधानता थी। ध्यान में बैठना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य था। वे साधकों की अनेक प्रकार की शंकाओं, समस्याओं के निवारण उनके ध्यान के अन्तर्गत ही कर दिया करते थे। जब कोई साधक अपनी कोई समस्या–शंका 'प्रभु' के सम्मुख रखता तो वे बड़े लाड़ से कहते– ''हमें क्या पता ! ध्यान में बैठ जाओ और स्वयं ही सब कुछ जान लो।'' इस प्रकार की नियमावली के होते हुए भी नवागन्तुकों की जिज्ञासाओं के वे बड़ी सरलता से व्याख्यात्मक उत्तर भी दिया करते थे। पूज्य श्री ने तुरन्त बालक के उक्त निवेदन को स्वीकार करते हुए कहा–''हाँ, हाँ क्यों नहीं ! अवश्य निः संकोच होकर कहो, जो भी कहना चाहते हो।''

''प्रभुजी ! मैंने सुना है कि एक अच्छा विद्वान बनना सरल है किन्तु एक अच्छा शिष्य बनना अत्यन्त कठिन है।''

''बेटा ! तुम तो प्रतिष्ठित विद्यालयों से शिक्षा पाये हो। संस्कृत भाषा पर तुम्हारा अच्छा अधिकार है। फिर तुम तो विद्वान बनना ही पसन्द करोगे ?''

''नहीं प्रभुजी, मुझे तो उत्तम शिष्य ही बनना है। पहले ही विद्वान बन गया तो फिर शिष्य कभी नहीं बन पाऊँगा। कहते हैं विद्वता में 'गुरुत्व' का अभिमान निहित रहता है। जहाँ पतन का भय अधिक होता है। उत्थान की तो उम्मीद ही क्या करना ?''

''बहुत अच्छा बेटा ! किन्तु उत्तम शिष्य का निर्माण त्याग-बलिदान की मजबूत नींव पर ही सम्भव है।''

''श्री प्रभुजी ! आपका अनुग्रह रहा तो अवश्य ही यह सम्भव हो सकेगा।''

''ठीक है बेटा, आश्रम में सेवा कार्य करो। जितनी निष्काम सेवा होगी उतनी ही ऊँचाई पा सकोगे। सेवा को पहले स्थान दें, नियमों को बाद में। जीवन भर इसी व्रत का पालन करना। गुरु आज्ञानुसार यदि गुरुसेवा अथवा आश्रम सेवा सम्बन्धी किसी अति आवश्यक कार्य में यदि आपके दैनिक जीवन से सम्बद्ध कुछ विशिष्ट नियम टूटते हैं तो बिना किसी चिन्ता के टूट जाने दें, किन्तु सेवा को ही प्रधानता दें।''

समय धीरे-धीरे खिसक रहा था। अनेक जिज्ञासाएँ बालक के किशोर मन में उठा करती थीं। एक दिन श्री महाप्रभु जी को अति आह्लादित स्थिति में पाकर बालक ने श्री चरणों में निवेदन किया-

"श्री प्रभुजी ! किन विशिष्टताओं के कारण 'गुरु', 'परम गुरु' अथवा 'सद्गुरु' की परिधि में आया करते हैं ?"

श्री महाप्रभुजी को बालक का यह प्रश्न अत्यन्त प्रिय लगा। कहने लगे-"अतिश्रेष्ठ जिज्ञासा है यह तुम्हारी। न जाने कितने नादान लोग गुरु की तीव्र लालसा में ढोंगी और अन्तःकरण से पूर्णतः अन्धे गुरुओं के चक्कर में पड़कर अपने जीवन का नाश कर लेते हैं।"

महान करुणार्णव आनन्दकन्द श्री प्रभुजी ने बालक की जिज्ञासा का बड़ी प्रसन्नता से उत्तर दिया-

देखो बेटा ! इस विषय के सन्दर्भ में शंकरजी ने भगवती उमा को उपदेश किया था-"**तृणीकृत - ब्रह्म विष्णु वैभवः परमो गुरुः**" (जो ब्रह्मा तथा विष्णु के वैभव को तृणवत् समझता है वही 'परम गुरु' है।), **यस्य दर्शनमात्रेण मनसः स्यात प्रसन्नता, भूयात धृतिश्शान्तिः स भवेत परमो गुरुः।** (जिन के दर्शन मात्र से मन प्रसन्न होता है, अपने आप धैर्य और शान्ति आ जाती है वे परम गुरु हैं।), **यः स्त्रीकनक मोहघ्नः स भवेत परमो गुरुः।** (जो कामिनी और कंचन के मोह का नाशकर्त्ता है वे परम् गुरु हैं।), **अज्ञानान्धतमश्छेत्ता सर्वज्ञः परमो गुरुः।** (जो अज्ञान रूपी अन्धकार का छेदन करने वाले हैं और सर्वज्ञ हैं वे ही परम गुरु हैं।)" संस्कृत विद्वान इस अद्भुत बालक ने श्रीमहाप्रभुजी के पावन मुखारविन्द से निःसृत उक्त श्लोकों के आशय को तुरन्त समझ लिया।

"श्री प्रभुजी ! एक और जिज्ञासा है मेरी।'

"वो क्या है ? बेटा!"

"श्रीप्रभुजी ! साधक शीघ्र योगमार्ग में सफलता प्राप्त कर सके इस हेतु उसमें क्या विशिष्टता होनी चाहिए ?"

"बेटा ! यूँ तो साधक के लिए कदम-कदम पर नियम ही नियम हैं पर इस प्रश्न का संक्षिप्त उत्तर यही है कि उसे आदर्शवान होना चाहिए।"

"श्रीप्रभु जी ! 'आदर्श' की यथार्थ व्याख्या क्या है ?'

"बेटा 'आदर्श' एक ऐसा 'मानवीय व्यवहार' है जिसके अन्तर्गत प्रत्येक स्थिति में मानव जाति का कल्याण निहित है। आदर्शवान व्यक्ति अथवा साधक का आदर्श जितना अटल-अटूट होता है वह महानता की उतनी ही ऊँचाई को स्पर्श करता है। आदर्श को 'योग्य व्यवहार' भी कह सकते हैं। किन्तु 'योग्य व्यवहार' करना गुरुकृपा से ही सम्भव है। मनुष्य कितना भी चतुर बने किन्तु बिना गुरु की कृपा के अविद्यावशात उसका व्यवहार दोषपूर्ण ही होता है। कुछ अच्छाइयों के कारण वह सोचता है कि उसका आचरण, उसके कार्य दूसरों के प्रति बहुत अच्छे हैं किन्तु वास्तव में 'योग्य व्यवहार' के अभाव में वे अच्छे गुण दुष्परिणाम ही लेकर आते हैं। यही अविद्या है।

देखो ! शास्त्रों में इस विषय पर स्पष्ट कहा गया है-

"जहाँ गुरुकृपा है वहाँ योग्य व्यवहार है और जहाँ योग्य व्यवहार है वहाँ सकल सिद्धियाँ और अमरता है।"

आदर्श समाज के प्रत्येक सदस्य परिवार का धर्म है कि उसका व्यवहार समाज के अन्य सदस्यों के साथ इतना मधुर और मित्रतापूर्ण होना चाहिए कि उनके मध्य विषम परिस्थितियों में भी किसी प्रकार की वैमनस्यता जन्म न ले सके, बल्कि परस्पर सहयोग से समस्याओं को हल करके वे सभी सुख से लाभान्वित हों।

आदर्श माता का धर्म है कि वह अपने बच्चों को सत् शिक्षा दे उनके साथ योग्य व्यवहार करके उनके जीवन को परम उत्कर्ष तक पहुँचाने में सहायता करे।

आदर्श पिता का धर्म है कि वह अपने बच्चों की उचित शिक्षा की व्यवस्था करे तथा दिनचर्या का पाठ पढ़ाऐ।

आदर्श वैद्य का धर्म होता है कि वह अपने रोगियों के साथ मधुर व्यवहार करके हर प्रकार से रोगी को आरोग्य प्रदान करे, धन का लालच न करे।

आदर्श राजा का धर्म है कि वह अपनी प्रजा को अपने सुख त्याग कर भी, सर्व सुख प्रदान करे।

आदर्श शिक्षक का धर्म है कि वह अपने विद्यार्थियों को निजपुत्र समझकर निष्पक्ष रूप से आदर्श- सद्‌गुणों से सम्पन्न कल्याणकारी शिक्षा प्रदान करे, जिससे आगे चल कर धर्माचरण के साथ वे देश की, समाज की सेवा कर सकें।

आदर्श आचार्य का धर्म है कि वह अपने विद्यार्थियों को दुर्गुणों से बचायें तथा आत्म चिन्तन की ओर अग्रसर करें।

आदर्श सद्‌गुरु का धर्म है कि वह अपने शिष्य को हर प्रकार से अनुशासित करके उसे ज्ञान-विज्ञान तृप्तात्मा बनाए।

तभी भोले बालक ने बड़ी तत्परता से उत्सुकता पूर्वक पूछा-

"श्री प्रभुजी ! और आदर्श शिष्य का धर्म क्या होता है ?"

गुरुओं के गुरु सदाशिव स्वरूप 'महागुरु' ने इस बार बड़ी गम्भीता से अपने मुखारबिन्द से उक्त प्रश्न के उत्तर में कहा-

"श्रद्धा, आज्ञापालन और आत्म समर्पण।"

थोड़ी देर रुक कर श्रीमहाप्रभु जी ने कहा- "इसमें 'आत्म समर्पण' ही प्रमुख है। जो शिष्य आत्म समर्पण करने का प्रयास करता है उसकी स्वतः ही गुरु के प्रति श्रद्धा और आज्ञापालन की भावना निरन्तर दृढ़ होती चली जाती है।"

गुरु पूजन कार्यक्रम अभी भी विधिवत चल रहा था। आश्रम के एक कोने में खड़ा वह बालक

आश्रम से जुड़ी कुछ दिन पूर्व की स्मृतियों में गहरा डूबता चला जा रहा था। उसे याद आया, इसी सन्दर्भ में एक अन्य साधक ने 'पूज्यश्री' से पूछा–

''श्रीप्रभुजी ! आदर्शवादिता 'योग विज्ञान' से किस सीमा तक सम्बन्धित है ?''

''अरे बेटा ! इसका योग विज्ञान से बहुत गहरा सम्बन्ध है। योग विहीनता के कारण लोग अविद्या (अज्ञानता) के वशीभूत होते हैं। लोभ और मोह के शिकार मानव को 'स्वार्थपरता' जकड़ लेती है। स्वार्थी लोग अपने स्वार्थों की पूर्ति में अपने आदर्श से भ्रष्ट हो जाते हैं अर्थात् 'व्यवहार कुशलता' को खो देते हैं। योग विद्या केवल मात्र साधकों को कैवल्य तक पहुँचाने का ही साधन नहीं है। वस्तुतः योग ही संसार की प्रत्येक समस्या का उचित उपचार है। आज के विश्व के अधिकांश जन योग शक्ति शून्य हैं। जो 'योग' में आस्था रखते हैं वे भी योग के यथार्थ स्वरूप को ठीक से नहीं समझ पाते। यही कारण है कि हर व्यक्ति का हृदय अशान्त है। ''यथायोग्य व्यावहारिकता'' के अभाव में ही पारिवारिक मतभेद, साम्प्रदायिक दंगे और विश्व युद्ध आदि देखने को मिलते हैं। हर तरफ राग-द्वेष, ईर्ष्या, प्रतिशोध, अस्तेय आदि दुर्गुणों के कारण ही चारों ओर अशान्ति पूर्ण महान दुःख का साम्राज्य व्याप्त है। केवल 'योग विद्या' अपनाने पर ही विश्व में शान्ति सुख की कल्पना साकार हो सकती है।

देखो ! मैं तुम्हें एक रहस्य की बात बताता हूँ। महर्षि पतंजलि द्वारा निर्देशित सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि यम-नियम का व्रत पालन केवल गुरु कृपा से ही सम्भव हो सकता है। शिष्य उतना ही यम-नियम की साधना में स्वतः ही दक्ष होता चला जाता है। दूसरे शब्दों में साधन के अन्दर गुरु कृपा से 'व्यावहारिक ज्ञान' की योग्यता आ जाती है और यम-नियम के व्रत स्वतः ही सधते चले जाते हैं। तुम्हीं लोग सोचकर बताओ जो लोग उचित पारस्परिक व्यावहारिकता का ज्ञान नहीं रखते वे यम-नियम की साधना-सफलता से कितना सम्बन्ध रखते होंगे ? यह विचारणीय बात है।

'महागुरु' अभी भी बोलते जा रहे थे–

इसी दोष के कारण सिद्ध पुरुषों के आश्रमों में प्रायः गुरुभाइयों में परस्पर मतभेद बना रहता है। गुरु के तमाम शिष्यों में पूर्ण गुरुकृपा पाने वाला तो कोई एक ही विरला होता है जो गुरु चरणों में सच्चे आत्म समर्पण स्वरूप यम-नियमों पर विजय प्राप्त करता हुआ योग की उच्च भूमिकाओं में उत्तरोत्तर चढ़ता चला जाता है। ऐसे शिष्य फिर शिष्य नहीं रहते वे आगे चलकर आचार्यवान हो जाते हैं अथवा 'गुरु' हो जाते हैं। क्योंकि वे परमात्म स्वरूप ही हो जाते हैं। कहा जाता है–

'आचार्यवान हि पुरुषा वेद ।

अर्थात परमात्मा को वही जान पाता है जो आचार्यवान है। जो आचार्य अपने शिष्यों के बलाबल को देखकर उन्हें शिक्षा देता है वास्तव में वही सच्चा और सुयोग्य आचार्य कहा जाता है।

आचार्यवान में शिष्यों के बलाबल को जानने की शक्ति आ जाती है। उसी के अनुरूप वह अपने प्रत्येक शिष्य से अत्यधिक प्रेम का व्यवहार रखता है। एक सिद्धगुरु के सान्निध्य में हजारों-लाखों -करोड़ों शिष्य होते हैं। सभी की चित्तवृत्तियाँ स्वभाव से पृथक-पृथक होती हैं फिर भी देखने योग्य बात यह होती है कि यह गुरु अपने 'उचित व्यवहार' कुशलता की योग्यता के कारण सभी को अपना लेता है और वे सभी अपने गुरुदेव से जीवन-पर्यन्त घना प्रेम रखते हैं। उनपर मर मिटने के लिए तैयार रहते हैं। आज का सामान्य व्यक्ति चार सदस्यों के परिवार में भी प्रेम के बीज नहीं बो पाता कारण सिर्फ एक ही है कि 'योग विद्या' के अभाव में उसमें उचित व्यवहारिकता नहीं होती। उचित व्यवहार से ही हम अपने निर्दोष प्रेम को दूसरों के ह्रदय तक पहुँचा सकते हैं। और तब कोई योग विद्यावान व्यक्ति अकेला ही सारे संसार को सन्तुष्ट करने वाला होता है और सारा संसार उसका हो जाता है।

परम पूज्य गुरुदेव श्री चन्द्र मोहन जी महाराज के जन्मोत्सव पर सभी को उनकी दुर्लभ कृपाएँ प्राप्त हों– पूज्य श्री गुरुदेव भगवान जी के पावन चरण कमलों में हमारी ऐसी प्रार्थना है। अनन्त शुभ कामनाओं के साथ समर्पित हैं निम्न पंक्तियाँ–

हे देवीराम अनुपम ! हे धरती माँ निराली!
तुमने दिलाई जग को, निज 'चन्द्र' की उजाली।
हे ग्राम ! गुरु-तपोवन ! तुझे याद होगा वो दिन,
गुरु के नमन को तेरी, झुकती थी डाली-डाली।
है अमर तेरी धूलि, कण-कण है इसका चन्दन,
मेरे प्रेमजल में घिसकर, बन मेरी भाल-लाली।
रंग दे मुझे उस रंग में, जिस रंग में तू रंगा है,
मेरे शोक दग्ध उर में, गुरु-छवि बसे निराली।
'बलिदान' प्रभु तुम्हारा, जग भूल ना पायेगा,
तुमने जगत की नैया, थी डूबती बचाली।
विषयों से दूर रख कर, 'अमृत' सिखाया पीना,
लज्जित हैं स्वर्गवासी, सब देव पुण्यशाली।
मिल, सूर्य, चन्द्र, तारे, सुर, नर, मुनि, ऋषिगण,
करते तुम्हारा वन्दन, कह कर त्रिलोक-माली।
आओ जो चाहो उर से, मिट जाये रात काली,
गुरु जन्मदिन मनाएँ, बस जाये प्रभु-उजाली।

(क्रमशः)

योग-शब्द

डा० स्वामी केशवाचार्य, चान्दोद (बड़ौदा)

'युज्' धातु से 'योग' शब्द बनता है। पाणिनि के गणपाठ में तीन 'युज्' धातु हैं। दिवादिगण के 'युज्' धातु का अर्थ है समाधि। हमारा आलोच्यमान 'योग' शब्द इसी 'युज्' धातु से उद्भव हुआ है। इसमें कोई मतभेद नहीं है। इसके सिवा और दो 'युज्' धातु हैं। एक रुधादिगण में, जिसका अर्थ संयोग होता है और दूसरी चुरादिगण में, जिसका अर्थ होता है संयमन। अब यह विचारना है कि ये दोनों 'युज्' धातु भी आलोच्य भाव 'योग-शब्द' की प्रकृति हो सकते या नहीं।

बहुत से लोग कहेंगे कि दूसरी दोनों 'युज्' धातुओं से योग-शब्द का उद्भव होने पर भी वह इस लेख का आलोच्य विषय नहीं है। क्योंकि वह योग समाधि नहीं है। 'समाधि' शब्द का भट्टोजि दीक्षित द्वारा प्रदर्शित अर्थ है चित्तवृत्ति निरोध। पातंजल दर्शन में उसका मूल विद्यमान है 'योगश्चित वृत्तिवृत्तिनिरोध:' अतएव समाधि बोधक 'युज्' धातु से ही इस योग-शब्द का उद्भव है, अन्य 'युज्' धातु से नहीं।

परन्तु मैं इस मत का पूर्णत: समर्थन नहीं करता। मैं कहूँगा कि दिवादिगणीय 'युज्' धातु से जो योग शब्द उद्भूत होता है उसके समाधि-बोधक होने पर भी अन्य 'युज्' धातु से उद्भत 'योग' शब्द समाधि बोधक नहीं हो सकता। यह कोई आवश्यक बात नहीं है। क्योंकि समाधि शब्द के प्रकृति-प्रत्यय का निर्देश करने से उसकी उपलब्धि यों होती है– सम्+आ+धा+कि,सम् = सम्यक्, आ+धा = स्थापन, यहाँ 'किप्' प्रत्यय का अर्थ धात्वर्थ से अतिरिक्त नहीं है। क्योंकि 'किप्' प्रत्यय भाव वाच्य में होता है। सम्यक्-स्थापन समाधि-शब्द का प्रकृति-प्रत्यय द्वारा प्राप्त अर्थ है। पित को इस प्रकार एक नाड़ी में स्थापन करना पड़ता है जिसके द्वारा चित्त वृत्ति निरुद्ध हो जाती है। अतएव 'समाधि' शब्द के प्रकृति-प्रत्यय के अर्थानुसार पातंजल दर्शन का सूत्र 'योगश्चित्त वृत्ति निरोध:' है। प्रकृति प्रत्यय से प्राप्त अर्थ द्वारा यदि पद समुदय के वाचकत्व का निर्वाह होता है इसके विषय में रुढ़ि कल्पना करना व्यर्थ है। सामान्य वाचक का विशेष परक अर्थ होने पर तो रुढ़ि कल्पना का मान्य ही होती है।

मेरा कथन यह है कि नैयायिक लोग प्रधानत: संयोग को ही समाधि कहते हैं–

अस्मद्विशिष्टानान्तु योगिनां युक्तानां योगज धर्मानुगृहीतेन मनसा स्वात्मान्तराकाश दिक्काल मनस्सु तत्समवेत गुण कर्म सामान्य विशेषेषु समवाये वावितथं स्वरूप दर्शन मुपपद्यते। (प्रशस्त पादभाष्य)।

इस भाष्य के व्याख्याकार बंगाल के प्रथम नैयायिकाचार्य श्री धराचार्य जी कहते हैं कि– **योग: समाधि:, स द्विविध: सम्प्रज्ञातोऽसम्प्रज्ञातश्च। सम्प्रज्ञातो धारकेषा प्रयत्नेन क्वचिदात्मप्रदेशे**

वशीकृतस्य मनसः तत्वबुभुत्सा विशिष्टे नात्मना संयोगः असम्प्रज्ञातश्च वशीकृतश्च मनसो निरभि सन्धि निरभ्युत्थानात्क्वचि दात्म प्रदेशे संयोगः।

अर्थात् जिस विषय में तत्व निर्णय की इच्छा हो, उसके अतिन्द्रिय होने पर भी चंचलता को दूर करने वाले प्रयत्न के द्वारा वशीकृत मन का उस इच्छा से युक्त अपने आत्मा के साथ किसी एक अंश में संयोग होना सम्प्रज्ञात समाधि है। तथा निम्नलिखित विशेष रूप से मनः संयोग को असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। यह मनः संयोग अभ्युत्थान और व्युत्थान के अभाव के कारण, अभिसन्धि सम्बन्ध से रहित तथा अपने किसी आत्म प्रदेश में उत्पन्न होता है। अतएव **'युजिर्-योगे'**-यह 'युज्' धातु भी यहाँ परित्यक्त नहीं होती, यह बात तो सुस्पष्ट हो ही गयी। बल्कि कारिकावली (कर्ता) रचयिता श्री विश्वनाथ पंचानन की प्राचीनोक्ति भी प्रधान कारिका में देखी जाती है-**'युक्त युञ्जानभेदतः'** अर्थात् योगज प्रत्यय दो प्रकार का होता है, एक युक्त का दूसरा युञ्जान का। यह युञ्जान-शब्द **'युज् समाधौ'** इस 'युज्' धातु से नहीं उद्‌भूत हो सकता। उससे तो युज्यमान पद बनेगा। नैयायिक-सम्प्रदाय में 'युजिर-योगे' यह रुधादिगणीय धातु भी योगजप्रत्यक्ष वर्णन के प्रसंग में सादर गृहीत हुई है। संयमन अर्थ वाली चुरादिगणीय 'युज्' धातु का सम्बन्ध भी **'वशीकृतस्यमनसः'** इस अंश द्वारा समर्थित होता है। मन को वश में करना ही मन का संयमन है। पातञ्जल दर्शन में भी समाधि में संयमन के विशेष सम्बन्ध की सूचना है-

"त्रयमेकत्र संयमः"।

समाधि के अन्तरंग प्रत्याहार, धारणा और ध्यान इन तीनों को एक ही साथ 'संयम' नाम दिया गया है। इस प्रकार त्रिविध 'युज्' धातु ही योग-शब्द के मूल में वर्तमान रह सकती हैं, यह सिद्ध हुआ।

तं विद्याद् दुःख संयोग वियोगं योग संज्ञितम्।

गीताजी का यह वचन भी वियोग बोधक 'योग' शब्द के निर्देश के द्वारा रुधादि गणीय 'युज्' धातु को योग-शब्द की प्रकृति रूप में ग्रहण करने का संकेत करता है। 'योग' शब्द का यह प्रकृति विचार प्राचीन योग दर्शन के स्वरूप निर्णय में उपयोगी है।

न्याय और वैशेषिक समान तन्त्र होने के कारण एक ही सम्प्रदाय में सामान्यतः गृहीत होते हैं। अवान्तर भेद होते हुए भी ये दोनों सम्प्रदाय 'शैवयोगी" नाम से प्रसिद्ध हैं। षडदर्शन समुच्चय की गुणरत्न नामक टीका में इनका सामान्यतः ऐक्य विशेषतः भेद वर्णित है। कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र में जो योग का नाम आया है, वह न्याय और वैशेषिक का ही ज्ञापक है। शुद्ध रूप से वैशेषिक पूर्व न्याय और गौतम सूत्र उत्तर न्याय कहलाता है। कौटिल्य या कौटल्यकृत अर्थशास्त्र में गृहीत 'योग' शब्द न्याय और वैशेषिक का ही बोधक है। इसके प्रमाण स्वरूप उन्हीं के द्वारा रचित न्याय भाष्य की यह स्पष्टोक्ति है कि-

पुरुषकर्मादिनिमित्तो भूतसर्गः कर्महेतवो दोषाः प्रवृतिश्च स्वगुणविशिष्टाश्चेतना असदुत्पद्यते उत्पन्नं निरुध्यत इति योगानाम्।

यहाँ न्याय भाष्यकार ने योग मत के द्वारा असत् वस्तुओं की उत्पत्ति, उत्पन्न के ध्वंस आदि का वर्णन किया है। यह मत न्याय वैशेषिक का है; प्रचलित योग दर्शन अर्थात् पातंजल दर्शन का नहीं। पातंञ्जल दर्शन सांख्य के ही अन्तर्गत है, इसी से इसका दूसरा नाम सेश्वर सांख्य है। विज्ञान भिक्षु ने पातञ्जल का **'सांख्यप्रवचन दर्शन'** नाम स्वीकार किया है। पातञ्जल दर्शन असद्वस्तु-उत्पत्ति वादी नहीं है। ब्रल्कि सत्कार्यवादी है। अतएव वात्स्यायन अर्थात् कौटिल्य के मत से त्रिविध आन्वीक्षिकी या आन्वीक्षिकी के अन्तर्गत 'सांख्य' शब्द से कापिल्य और पातञ्जल दर्शन का ही बोध होता है। न्याय वैशेषिक के मत से 'चित्त की चंचलता का निवारण' हो सकता है। परन्तु पातञ्जल वर्णित प्रमाणसंशयादि वृत्ति उस मत में चित्त वृति न होने के कारण उसका विरोध इस लक्षण के द्वारा वर्णित नहीं हो सकता। वृत्ति शब्द का यदि अर्थ धर्म हो तो चित्त ही चंचलता जिस प्रकार चित्त का धर्म है, उसी प्रकार आत्मा के साथ जो चित्त का संयोग है वह भी चित्त का धर्म अर्थात् चित्त वृत्ति हो सकती है। परन्तु यह संयोग समाधिकाल में भी विरुद्ध नहीं होता इसी कारण नैयायिकों के मत से 'मनःसंयोग विशेष' ही योग है। और वह संयोग ही समाधि है। इसी संयोग का उल्लेख श्रीयुत् श्रीधराचार्य की पंक्तियों को उद्धृत किया है।

नैयायिक सम्प्रदाय के मत से चित्त, मन और अन्तःकरण एक ही पदार्थ है। **'बुध्यते–अनेन'**। इस प्रकार करण वाच्य में 'बुध् + क्तिन्' प्रत्यय द्वारा निष्पन्न 'बुद्धि' शब्द का अर्थ भी मन होता है। मन को निर्देश करने के लिए 'बुद्धि' शब्द का प्रयोग न्याय सूत्र में आया है–

'प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धि शरीरारम्भः।' (१.१.१७)

भाष्यकार लिखते है–

मनोऽत्र बुद्धिरित्यनेन अभिप्रेतं तै बुध्यते अनेवेति बुद्धिः।

अर्थात् प्रवृत्ति शब्द का अर्थ यहाँ कायिक, वाचिक और मानसिक कर्मों का समूह है। प्रयत्न रूप प्रवृत्ति की वाह्य मूर्ति उक्त कर्म समूह है। बुद्धि पद वाच्य जिस अन्तःकरण को न्याय के मत से मन कहते हैं, उसका एक और आभिधानिक नाम आत्मा भी है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह आत्मा ब्रह्म नहीं है। तथा नैयायिक मत सिद्ध जीवात्मा और परमात्मा भी नहीं है। उपनिषदों में भी इस प्रकार अन्तःकरण को 'आत्मा' शब्द के प्रयोग द्वारा अनेक स्थलों में प्रतिपादित किया गया है। जैसे–

'बुद्धेरात्मा महानपरः। महतः परमव्यक्त मव्यक्तात्पुरुषः परः।

(कठोपनिषद्)

यहाँ पुरुष ही ब्रह्म अथवा न्यायमत प्रतिपादित आत्मा है। इस उपनिषद् मन्त्र में प्रथम व्यवहृत 'आत्मा' शब्द पुरुष नहीं, महतत्व है। यह बात उक्त मन्त्र में स्पष्ट है।

महत्व की बात सांख्य दर्शन में है। न्याय के मत से वह मन ही है। जैसे–

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरमत्तन्मयो भवेत्।। (मुण्डकोपनिषद्)

प्रणव के आश्रय से यहाँ योग का उपदेश दिया गया है। प्रणव धनुरूप है। आत्मा अर्थात् अन्तःकरण बाणस्वरूप है। ब्रह्म को लक्ष्य करके इस बाण के प्रयोग के द्वारा लक्ष्य को बेधने से तन्मयता आ जाती है। लक्ष्य-बोध शब्द के द्वारा संयोगविशेष का ही बोध होता है। यहाँ आत्मा शब्द का 'अन्तःकरण' अर्थ सर्ववादि सम्मत नहीं है। केवल नैयायिकमत सम्मत है। परन्तु लक्ष्य बेध शब्द में जो संयोग विशेष जान पड़ता है, वह सभी द्वैत वादियों को अभिप्रेत है। ज्ञानादि के लिए मन के जो विशेष-विशेष संयोग स्वीकार किये जाते हैं, न्याय के मत से उसका स्थूल विवरण इस प्रकार है- 'मन अनुपरिमाण है। परन्तु विद्युत के समान प्रगतियुक्त है। नाड़ी विशेष के साथ संयोग होने पर वही एक मन ज्ञान, इच्छा, सुख, दुःख प्रयत्नादि विभिन्न गुणों का उत्पादन करता है जिस नाड़ी से मन का संयोग होने से चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, उसी नाड़ी से मनः संयोग के द्वारा श्रावणादि प्रत्यक्ष नहीं होते। उसी प्रकार जिस नाड़ी से प्रत्यक्ष होने पर श्रावण प्रत्यक्ष होता है उसी के साथ मनः संयोग होने से चाक्षुवादि प्रत्यक्ष नहीं होते। इसी कारण अन्य मनस्कता शब्द का व्यवहार होता है। एकाग्रचित्त से रूप का दर्शन करते समय किसी की बात शीघ्र नहीं सुन पड़ती, संगीत श्रवण करते समय दूसरा ज्ञान नहीं होता। क्योंकि शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं। उनमें केवल बहत्तर ही प्राण-वहा प्रधान नाड़ियाँ हैं। इन प्रधान नाड़ियों में दस प्रमुख हैं।

१-इडा, २-पिंगला, ३-सुषुम्ना, ४-गान्धारी, ५-हस्तिजिह्वा, ६-पूषा, ७-यशस्विनी, ८-अलम्बुषा, ९-कुहू और १०-शंखिनी।

शंखिनी नाड़ी के अभ्यन्तर जो नाड़ी है उसके अन्तर्गत पुरीतत् नाड़ी है। मन के पुरीतत् नाड़ी में प्रविष्ट होने पर सुषुप्ति हो जाती है। उस समय कोई भी ज्ञान नहीं होता। पुरीतत् नाड़ी जिस मेध्या नाड़ी द्वारा आवृत है, उसमें मनः संयोग होने से निद्रा और निद्रा में स्वप्न-दर्शनादि ज्ञान होता है। मन का गान्धारी के साथ संयोग होने पर वाम चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। और हस्तिजिह्वा में मन का संयोग होने से दक्षिण चक्षु द्वारा। पूषा में मन का संयोग होने से दक्षिण कर्ण द्वारा श्रवण प्रत्यक्ष होता है।

सुषुम्ना के अतिरिक्त अन्य सब नाड़ियों में मन का संयोग विविध प्रकार के यत्न, इच्छा, द्वेष शारीरिक चेष्टा तथा विविध विषयों के भोग के लिए उपयोगी होता है। इडा पिंगला के साथ मनः संयोग जीवन, योनि यत्न प्रभृतिका उत्पादक है। पातञ्जलोक्त चित्तवृत्ति निरोध सुषुम्नान्तर्गत नाड़ी में मनः संयोग से होता है। 'युज् समाधौ' यह 'युज्' उसी गाढ़ संयोग का बोध करती है। अपर दोनों 'युज्' धातुओं से योग शब्द उद्भूत होने पर भी उसके सामान्य वाचक होने के अतिरिक्त विशेष अर्थ का भी बोध होता है। जिस प्रकार ब्राह्मण कहने से पंचगौड़ पंच द्रविड़ सब ब्राह्मणों का बोध होता है। किन्तु कान्य कुब्ज कहने से एक विशेष सम्प्रदाय का ही ज्ञान होता है। 'योग' शब्द के 'युज्' धातु से उद्भूत होने पर भी समाधि या संयोग विशेष के अर्थ में उसका प्रयोग पुल्लिंग, तथा शास्त्रवाचक होने पर नपुंसक लिंग में होता है। 'योगमाचष्टेयत्' इस वाक्य में योग+णिच्+अच्

प्रत्यय से निष्पन्न योग शब्द ही शास्त्र वाचक है। यह योग वक्ता पुरुष का वाचक भी हो सकता है।

विद्या समुद्देश प्रकरण में कौटिल्य लिखते हैं- **'साख्यं योगं लोकायतं चेत्यान्विक्षिकी'**। यहाँ 'योग' शब्द से न्याय और वैशेषक का ही बोध होता है। यह बात प्रमाणपूर्वक पहले ही बतलायी जा चुकी है। आन्वीक्षिकी का मुद्रित पुस्तक में आन्वीक्षिकी पाठ मिलता है। ब्रह्म सूत्र में **'एतेन योगः प्रयुक्तः'** सूत्र है। इसमें भी पुल्लिंग प्रयोग है। परन्तु इसका वाच्यार्थ शास्त्र नहीं है। अर्थात् यहाँ 'योग' शब्द शास्त्र वाचक नहीं है। शास्त्र यहाँ लक्ष्यार्थ है। 'योग' शब्द की योग साधना शास्त्र में लक्षणा है। यह लक्षणा निम्नलिखित न्याय सूत्र द्वारा सिद्ध होती है-

सहचरणस्थानतादर्थ्य वृत्तमान धारणसामीप्य योग साधनाधिपत्येभ्यो ब्राह्मण मञ्चकटराजसक्तु चन्दन गंगाशा टकान्न पुरुषेष्वतद्भावेऽपितदुपचारः। (२/२/५९)

'साधनात् अन्नं प्राणाः' इति भाष्यम्। भगवान शंकराचार्य के मत से ब्रह्म सूत्रस्थ 'योग' शब्द हिरण्यगर्भोक्त योग शास्त्र परक होने पर भी सूत्रकार के अभिप्रायानुसार यह न्याय का बोधक है, या नहीं यह कौन कह सकता है ? क्योंकि ब्रह्मसूत्र में ही नहीं, बल्कि शारीरिक भाष्य में भी न्याय मत का खण्डन नहीं है।

'एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याता' :- इस ब्रह्मसूत्र की व्याख्या करते समय भगवान शंकराचार्य परमाणु कारणवाद का उल्लेख करते हुए भी न्याय मत का खण्डन नहीं करते। न्यायसूत्रकार का सृष्टि विषय में वैशेषिक के साथ मत साम्य प्रसिद्ध होते हुए भी मोक्ष क्रम में न्याय सूत्र का प्रामाण्य स्वयं शंकराचार्य स्वीकार करते हैं, तथा-

दुःखजन्म प्रवृत्ति दोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्गः। (१/१/२)

इस न्यायसूत्र को उद्धृत करते हैं। परमाणुकारणवाद के खण्डन में ब्रह्मसूत्र और शारीरिक भाष्य में जो विचार हैं उनमें भी भगवान् शंकराचार्य वैशेषिक मत का ही उल्लेख करते हैं। न्याय मत का तो नाम भी नहीं लेते। अद्वैत ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती। न्याय मत अद्वैत ज्ञान का समर्थक नहीं है, उसका योग मुक्ति का साक्षात् कारण नहीं है। इस अभिप्राय से 'योग-प्रयुक्त हो सकता है। जो हो उस विचार की यहाँ विशेष आवश्यकता नहीं है। नपुंसकलिंग में 'योग' शब्द न्याय और वैशेषिक का वाचक है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। अभिधान चिन्तामणि और अन्य कतिपय प्राचीन जैन ग्रन्थों में नैयायिक के पर्याय शब्द रूप में 'योग' शब्द व्यवहृत हुआ है। योग शब्द त्रिविध 'युज्' धातु से उद्भूत हो सकता है तथा तदुपदेशक शास्त्रवाचक हो सकता है एवं शास्त्रोपदेशवाचक भी हो सकता है।

***

गुरुभक्ति से ब्रह्मज्ञान

सामान्य ज्ञान की तो बात ही क्या, ब्रह्मज्ञान भी गुरु वचनों के प्रति आदर-सम्मान और श्रद्धापूर्वक उनके पालन करने से प्राप्त हो सकता है, जिसके अप्रतिम उदाहरण उपनिषदों में प्राप्त है। यहाँ एक आख्यान प्रस्तुत किया जा रहा है।

जबाला नाम की एक ब्राह्मणी थी। उसके सत्यकाम नाम का एक पुत्र था। जब वह विद्याध्ययन करने योग्य हुआ, तब एक दिन उसने गुरुकुल जाने की इच्छा से अपनी माता से पूछा-'माता ! मैं ब्रह्मचर्य पालन करता हुआ गुरु की सेवा में रहना चाहता हूँ। गुरु मुझसे नाम और गोत्र पूछेंगे, मैं अपना नाम तो जानता हूँ परन्तु गोत्र नहीं जानता, अतएव मेरा गोत्र क्या है वह बतलाओ।'

जबाला ने कहा-'बेटा ! तू किस गोत्र का है, इस बात को मैं नहीं जानती; मेरा नाम जबाला है और तेरा सत्यकाम, बस मैं इतना ही जानती हूँ। तुझसे आचार्य पूछें तो कह देना कि मैं जबाला का पुत्र सत्यकाम हूँ।'

माता की आज्ञा लेकर सत्यकाम महर्षि हरिद्रुमान् के पुत्र गौतम ऋषि के आश्रम में गया और प्रार्थना करके उनसे बोला-'भगवन् ! मैं ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ आपके समीप रहकर सेवा करना चाहता हूँ। मुझे स्वीकार कीजिये।' गुरु ने बड़े स्नेह से पूछा- 'सौम्य ! तेरा गोत्र क्या है ?' सरल सत्यकाम ने नम्रता से कहा-'भगवन्! मेरा गोत्र क्या है, इस बात को मैं नहीं जानता। मैंने यहाँ आते समय अपनी माता से पूछा था, तब उन्होंने कहा कि मैं युवावस्था में अनेक अतिथियों की सेवा में लगी रहने के कारण केवल इतना ही जानती हूँ कि मेरा नाम जबाला है और तेरा सत्यकाम। अतएव भगवन् ! मैं जबाला का पुत्र सत्यकाम हूँ।'

सत्यवादी सरल हृदय सत्यकाम की सीधी-सच्ची बात सुनकर ऋषि गौतम प्रसन्न होकर बोले- वत्स ! ब्राह्मण को छोड़कर दूसरा कोई भी इस प्रकार सरलभाव से सच्ची बात नहीं कह सकता-**'नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति'** ऐसा सत्य और कपटरहित वचन कहने वाला तू निश्चय ही ब्राह्मण है। मैं तेरा उपनयन-संस्कार करूँगा, जा थोड़ी-सी समिधा ले आ।'

विधिवत् उपनयन-संस्कार करने के बाद ऋषि गौतम ने अपनी गोशाला से चार सौ दुबली-पतली गौएँ चुनकर अधिकारी शिष्य सत्यकाम से कहा-'पुत्र ! इन गौओं को चराने वन में ले जा। देख, जब तक इनकी संख्या पूरी एक हजार न हो जाय, तब तक वापस न आना। सत्यकाम ने प्रसन्न होकर कहा-'भगवन् ! इन गौओं की संख्या जब तक पूरी एक हजार न हो जायेगी, तब तक मैं वापस नहीं आऊँगा।' यों कहकर सत्यकाम गौओं को लेकर जिस वन में चारे-पानी की बहुतायत थी, उसी में चला गया और वहीं कुटिया बनाकर वर्षों तक उन गौओं की तन-मन से खूब सेवा करता रहा।

गुरु-भक्ति का कितना सुन्दर दृष्टान्त है। ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने की इच्छा वाले शिष्य को गौ चराने के लिये गुरु वन में भेज दें और वह चुपचाप आज्ञा शिरोधार्य कर वर्षों तक निर्जन वन में रहने चला जाय। यह बात ज्ञानपिपासु गुरुभक्त भारतीय ऋषिकुमारों में ही पायी जाती है। आज की संस्कृति तो इससे सर्वथा विपरीत है। अस्तु !

सेवा करते-करते गौओं की संख्या पूरी एक हजार हो गयी। तब एक दिन एक वृषभ ने आकर पुकारा-'सत्यकाम !' सत्यकाम ने उत्तर दिया- 'भगवन् ! क्या आज्ञा है ?' वृषभ ने कहा-'वत्स ! हमारी संख्या एक हजार हो गयी है, अब हमें गुरु के आश्रम में ले चलो। मैं तुम्हें

ब्रह्म के एक पाद का उपदेश करता हूँ।' सत्यकाम ने कहा–'कहिये भगवन् !' इसके बाद वृषभ ने ब्रह्म के एक पाद का उपदेश देकर कहा–'इसका नाम ''प्रकाशवान्'' है। अगला उपदेश तुम्हें अग्नि देव करेंगे।'

दूसरे दिन प्रात: काल सत्यकाम गौओं को हाँककर आगे चला। संध्या के समय मार्ग में पड़ाव डालकर उसने गौओं को वहीं रोका और उन्हें जल पिलाकर रात्रि-निवास की व्यवस्था की। तदनन्तर वन से लकड़ियाँ बटोर और अग्नि जलाकर पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया। अग्निदेव ने उसे सम्बोधन किया–'सत्यकाम !' सत्यकाम ने उत्तर दिया–'भगवन् ! क्या आज्ञा है ?' अग्निदेव ने कहा– 'सौम्य ! मैं तुम्हें ब्रह्म के द्वितीय पाद का उपदेश करता हूँ।' सत्यकाम बोला–'कीजिये भगवन्' तदनन्तर अग्निदेव ने ब्रह्म के दूसरे पाद का उपदेश करके कहा–'इसका नाम ''अनन्तवान्;; है। अगला उपदेश तुम्हें हंस करेगा।'

सत्यकाम रात भर उपदेश का मनन करता रहा। प्रात:काल गौओं को हाँककर आगे बढ़ा और संध्या होने पर किसी सुन्दर जलाशय के किनारे ठहर गया। गौओं के लिये रात्रि निवास की व्यवस्था की और स्वयं आग जलाकर पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया। इतने में एक हंस ऊपर से उड़ता हुआ आया और सत्यकाम के पास बैठकर बोला–'सत्यकाम !' सत्यकाम ने कहा–'भगवन !' क्या आज्ञा है ?' हंस ने कहा–'सत्यकाम ! मैं तुम्हें ब्रह्म के तीसरे पाद का उपदेश करता हूँ।' सत्यकाम ने कहा–'भगवन् ! कृपा करके कीजिये।' पश्चात् हंस ने ब्रह्म के तीसरे पाद का उपदेश करके कहा–'इसका नाम ''ज्योतिष्मान्'' है। अगला उपदेश तुम्हें मद्गुनाम का एक जलपक्षी करेगा।'

रात को सत्यकाम ब्रह्म के चिन्तन में लगा रहा। प्रात:काल गौओं को हाँककर आगे चला और संध्या होने पर एक वट-वृक्ष के नीचे ठहर गया। गौओं की उचित व्यवस्था करके वह अग्नि जलाकर पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया। इतने में मद्गु नामक एक जलपक्षी ने आकर पुकारा–'सत्यकाम !' सत्यकाम ने उत्तर दिया–'भगवन् ! क्या आज्ञा है ?' मद्गुने कहा–'वत्स ! मैं तुम्हें ब्रह्म के चतुर्थ पाद का उपदेश करता हूँ।' सत्यकाम बोला– 'प्रभो ! कीजिये।' तदनन्तर उसने ''आयतनवान्'' रूप से ब्रह्म का उपदेश किया।

इस प्रकार सत्य, गुरुसेवा और गौ-सेवा के प्रताप से वृषभरूप वायु, अग्निदेव, हंसरूप सूर्यदेव और मद्गुरूप प्राण देवता से ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर सत्यकाम एक हजार गौओं के बड़े समूह को लेकर आचार्य गौतम के आश्रम में पहुँचा। उस समय उसके मुखमण्डल पर ब्रह्मतेज छिटक रहा था, आनन्द की सहस्र-सहस्र किरणें झलमला रही थीं। गुरु ने सत्यकाम की चिन्ता रहित, तेजपूर्ण दिव्य मुखकान्ति को देखकर कहा–'वत्स ! सत्यकाम !' उसने उत्तर दिया–'भगवन् !' गुरु बोले–'सौम्य ! तू ब्रह्मज्ञानी के सदृश दिखायी दे रहा है, वत्स ! तुझे किसने उपदेश किया ?' सत्यकाम ने कहा–'भगवन् ! मुझे मनुष्येतरों से उपदेश प्राप्त हुआ है।' यों कहकर उसने सारी घटना सुना दी और कहा–'भगवन् ! मैंने सुना है कि आप-सदृश आचार्य के द्वारा प्राप्त की हुई विद्या ही श्रेष्ठ होती है, अतएव मुझे आप पूर्णरूप से उपदेश कीजिये।' गुरु प्रसन्न हो गये और उन्होंने कहा–'वत्स! तूने जो कुछ प्राप्त किया है, यही ब्रह्मतत्त्व है। अब तेरे लिये कुछ भी जानना शेष नहीं रहा।'

इस प्रकार अपनी कर्तव्यनिष्ठा में तत्पर सत्यकाम गायें चराकर गुरु-सेवा और आज्ञापालन मात्र से ही ब्रह्मज्ञानी हो गये। यह है–ज्ञान-प्राप्ति का मर्म।

❊❊❊

जीवन तत्व साधन

(स्वास्थ्य-चर्चा)

(पिछले अंक से आगे)

आहार का जो निस्सार अंश छोटी आंत से बड़ी आंत में मल बनाकर बाहर निकालने के लिए पहुँचाया जाता है वह वहीं पर कई घण्टे तक बना रहता है और धीरे-धीरे गुदा मार्ग तक पहुँच पाता है। इसी बीच में बड़ी आंत की मांस पेशियाँ उसमें से थोड़ा बचा हुआ रस चूसकर उसे एक भिन्न मार्ग से रक्त में मिलने के लिए भेजती रहती है। यह निस्सार अंश दूषित होने के कारण सड़ने लगता है और उससे चूसा हुआ रस भी दूषित होकर रक्त में मिल जाता है और शरीर के लिए हानिकारक बन जाता है। मल का अंश पित्त की उत्पत्ति में खराबी पैदा करता है। जिससे कलेजे का दर्द, उदर रोग और पीलिया आदि रोगों की उत्पत्ति होती है।

इस प्रकार जब मलयुक्त रस हृदय में पहुँचता है तो उसे भी हानि पहुँचती है। मलांश को दूर करने के लिए उसे अधिक वेग से काम करना पड़ता है जिससे उसका धड़कना बढ़ जाता है। इससे थोड़ा सा मेहनत का कार्य करने से ही थकावट और हंफाई आ जाती है। तबियत सुस्त व उदास बनी रहती है।

जब मल बड़ी आंत में देर तक भरा रहता है और चिपका रहता है तो उसमें विषाक्त तत्व पैदा हो जाते हैं और उसमें क्षय के कीटाणु पैदा हो जाते हैं। ये कीटाणु रक्त के साथ फेफड़ें में पहुँच जाते है और किसी कोने में अड्डा बना लेते हैं। इस तरह तपेदिक का भयंकर रोग कब्ज से ही उत्पन्न होता है।

बवासीर की बीमारी का कारण तो प्रायः कब्ज ही होता है। अधिक समय तक बैठे रहने की आदत से और व्यायाम न करने से तथा शराब व गरम भोजन करने और आंतों में मल का भार इकट्ठा हो जाने से गुदा के भीतर की मांस पेशियां बढ़ जाती है और उनमें रक्त बढ़ जाता है। इससे वहाँ का मांस फूलकर सख्त पड़ जाता है। उसी को बवासीर का मस्सा कहते हैं। जब ये मस्से मल निकलने का दबाव पड़ने से फट जाते है और उससे खून निकलने लगता है, तो उसे खूनी बवासीर कहते हैं।

एक बार अमेरिका में कई डाक्टरों ने मिलकर लोगों के मलाशय की वास्तविक अवस्था का पता लगाने का विचार किया और बीमार होकर मरने वाले व्यक्तियों की लाशों को चीर कर उनकी परीक्षा करने लगे। उन्होंने एक-एक करके २८४ लाशों को चीर कर देखा। इनमें २५६ व्यक्तियों के मलाशय सड़े हुए मल से भरे थे। किसी-किसी का मलाशय तो मल की अधिकता से फूलकर दुगना हो गया था। कितने ही व्यक्तियों का वर्षों पुराना मल सूखकर पत्थर की तरह कड़ा हो गया था और बड़ी आँत की अगल-बगल में चिपकर जम गया था। जब डाक्टरों ने उस सूखे मल को छुरियों से काटकर निकाला तो दिखाई पड़ा कि उसके भीतर तरह-तरह के कीड़ों ने अपना घर बना रखा है और उन कीड़ों ने कितने ही लोगों की आंत को काटकर घायल कर दिया है। उन्हीं घरों में कीड़ों ने अण्डे भी दे रखे थे। यद्यपि यह मल वर्षों में सूखकर इतना कड़ा हुआ था और उनका मलाशय बीसों

वर्षों से ऐसी ही कड़ी हो गई, पर मरने के कुछ समय पहले तक वे खाते थे और अपने को स्वस्थ भी समझते थे।

डा. टर्नर ने लिखा है कि आठ आदमियों में से केवल एक की ही बड़ी आंत साफ रहती होगी। शेष लोगों को साधारण रीति से नित्य शौच हो जाता है और वे यह समझ लेते है कि हमारा पेट साफ है। पर वास्तविक बात यह होती है कि मलाशय के पूरा भर जाने से उसके नीचे के भाग का मल नीचे खिसक आता है और मलाशय सदा भरा ही रहता है। इस प्रकार का मनुष्य वर्षों तक पाँच फीट लम्बे मल से भरे थैले को पेट के भीतर रखकर चलता फिरता और सोता है। लोगों से मिलता-जुलता है, और खाता-पीता है और अन्त में दुनियाँ से कूच कर जाता है।

जब मनुष्य को कब्ज अधिक सताता है और उसे साफ शौच न होने की तकलीफ होती है तब वह पाचक चूर्णों, रेचक औषधियों, जुलाब आदि का लेना उचित समझता है और इनका प्रयोग भी करता है। थोड़े समय तक जब तक शरीर नवीन रहता है और काफी शक्ति रहती है, वे ऐसा अनुभव भी करते है कि हमको दवाओं से लाभ हो रहा है पर यह शक्ति वस्तुतः उनके शरीर की ही होती है जो दवाओं से क्षणिक रूप में उत्तेजित होकर अपना प्रभाव दिखाती है। सच पूछा जाय तो ये औषधियां शरीर के लिए विषतुल्य है। जब यह विष पाकस्थली में पहुँचता है तो शरीर के लिए प्रकृति-विरुद्ध पदार्थ होने से शरीर के अंग उसे शीघ्र बाहर निकालने का प्रयत्न करते है। इसके परिणामस्वरूप उन अंगों से पाचक रस बड़ी मात्रा में बाहर निकलने लगता है और उसी के साथ औषधि बड़ी आंत में एकत्रित मल का कुछ अंश भी बाहर निकाल देती है। किन्तु बार-बार ऐसी दवाओं का सेवन करने से पाकस्थली की शक्ति कमजोर हो जाती है फिर आंतें अपना काम सुचारू रूप से नहीं करती और तब औषधियों का भी असर नहीं होता। फिर कहना पड़ता है कि मर्ज बढ़ता ही गया ज्यों-ज्यों दवा की।

कब्ज को दूर करने के लिए एनिमा का प्रयोग एक प्रभावशाली उपाय है। इससे मलाशय की अच्छी सफाई हो जाती है। किन्तु थोड़े पानी का एनिमा लेने से पूरे आंत की सफाई नहीं होती। क्योंकि वह जल सीकम की थैली तक तो पहुँचता ही नहीं। यदि एक दो सेर पानी का एनिमा लिया जावे तो सचमुच पूरी आंतों में पानी पहुँच जाता है और सीकम में पड़े हुए कूड़ा करकट को भी बहा ले जाता है। किन्तु कभी-कभी ऐसा होता है कि सीकम में जल पहुँच तो जाता है मगर आंतों की कमजोरी से शौच के समय वह बाहर नहीं निकल पाता और वहीं सड़ने लगता है। यदि एनिमा या वस्ति क्रिया के बाद उड्डियान बन्ध या नौली क्रिया कर ली जावे तो अवश्य पूरे आंत की सफाई हो जाती है और सीकम में भी दबाव पड़ने से उसके अन्दर पड़े हुए पदार्थ जल के साथ बाहर निकल जाते है। अतः जो वस्ति और नौली क्रिया करते रहते है। उनके मलाशय सदैव साफ रहते है।

जीवन तत्व साधन की तीन क्रियायें पग-चालन, नाभि-चालन और जानु प्रसार ऐसी विचित्र है कि इसमें बिना किसी बाह्य उपचार के पेट व आंतों की सफाई हो जाती है। पग-चालन तथा नाभि चालन से आमाशय व आंतों पर बराबर तनाव पड़ता है। जिससे उनकी क्रियाशीलता बढ़ जाती है।

बार-बार हिलने-डोलने से चिपके हुए मल छूट जाते हैं और वे स्वाभाविक रूप से बाहर निकल जाते हैं। जानु प्रसार करने से बड़ी आंतों पर तथा सीकम की थैली पर विशेष दबाव पड़ता है और उनमें फँसे हुए मल निकल जाते हैं।

जीवन तत्व साधन की इन क्रियाओं का आविष्कार करके महा प्रभु योगेश्वर श्री रामलाल जी ने कितना जन कल्याण किया है। इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। जो लोग इन क्रियाओं को नित्य नियम से विधिपूर्वक करते रहेंगे वे कभी पेट के रोगों से पीड़ित नहीं होंगे और पेट के ठीक रहने से शरीर के अन्य रोग भी दूर हो जाते हैं।

बाल मचलन

जीवन तत्व साधन की छठी क्रिया का नाम बाल मचलन है। जब छोटे बच्चे अपनी माता से रूठ जाते हैं तब वे चारपाई पर पड़े-पड़े हाथ-पैर चलाया करते हैं। इस क्रिया को करने के लिए सीधे चित्त लेट जाइये, दोनों हाथों की मुट्ठियों को बांध लीजिए और हाथों को कड़ा करके दोनों पैरों तथा हाथों को उसी प्रकार जल्दी-जल्दी चलाना चाहिए जैसे बच्चे मचलने के समय करते हैं। दोनों हाथ छाती के पास आगे पीछे चलते रहेंगे। पाँव भी आगे-पीछे होते रहेंगे। इस क्रिया में जब दाँये पैर को ऊपर करेंगे तो दायाँ हाथ ऊपर चला जायेगा। इस प्रकार से दोनों हाथों व पैरों को क्रमशः जल्दी-जल्दी चलाना चाहिए किन्तु सिर यथार्थ रूप से जमा रहना चाहिए। यह क्रिया एक मिनट तक करनी चाहिए।

इस क्रिया को करते समय साधक की मनोभावना एक बच्चे की तरह हो जाती है और शरीर में एक स्वाभाविक आह्लाद पैदा हो जाता है। हाथ-पैरों को वेगपूर्वक चलाने से जो शरीर के नस-नाड़ियों का व्यायाम हो जाता है उसका लाभ तो अलग ही है। पर सबसे बड़ा लाभ मन की प्रसन्नता से सम्बन्ध रखता है। आज वैज्ञानिकों ने सिद्ध कर दिया है कि खूब जोर से हँसने से स्वास्थ्य में बड़ा सुधार हो जाता है। मन में विकार आने पर अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। ईर्ष्या-द्वेष से तिल्ली व जिगर के रोग हो जाते हैं। निराशा और डर से हृदय रोग हो जाता है। क्रोध और घृणा से गुर्दों में विकार हो जाता है। चिन्ता से छाती और सिर में फोड़े व पीलिया रोग हो जाते है।

क्रोधी माँ का दुध पीने से बच्चों को प्रायः दस्त आने लगते हैं। चित्त की प्रसन्नता से कोई बीमारी नहीं होती और मनुष्य दीर्घायु प्राप्त करता है। प्रसन्न चित्त होकर भोजन करने से भोजन खूब पच जाता है। प्राचीनकाल में जब राजा लोग भोजन करते थे, उस समय विदूशक और हँसमुख व्यक्ति वहाँ हँसी का वातावरण उत्पन्न करते थे।

मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि दिन में कम से कम एक बार खूब जोर से ठट्ठा मार कर हँसना आवश्यक है। यदि किसी अन्य से न हँस सको तो अपना ही चेहरा शीशे में देखो और हँसो। बाल मचलन करने वाले को तो एक बार हँसने और प्रसन्न होने का अच्छा मौका लग जाता है। यदि

आपको हँसने का अवसर नहीं मिलता तो बाल मचलन क्रिया कीजिए। इसके पश्चात् आप देखेंगे कि आप में प्रसन्नता की लहर दौड़ने लगेगी और आपको दिन भर तरोताजा बनाये रखेगी। इस क्रिया में यही गुण नहीं है कि करने वाला ही प्रसन्न होता है वरन् जो कोई दूसरा देखता है वह भी बिना हँसे नहीं रहता। प्रसन्न चित्त रहने का यह एक क्रियात्मक साधन है।

अंग्रेजी में एक कहावत है कि Laugh three times a day and keep the doctor away अर्थात् दिन में तीन बार हँसो और डाक्टर को दूर रखो। यदि आप दिन में तीन बार बाल-मचलन क्रिया करने लगे तो अनायास हँसने का मौका मिल जायेगा और आपको डाक्टर या वैद्य का द्वार नहीं खटखटाना पड़ेगा। प्रसन्न चित्त रहने के सम्बन्ध में कतिपय विद्वानों के मत निम्नलिखित हैं–

१. हँसो, शरीर से पुष्ट बनोगे। (बेन आनसन)

२. हँसो, दीर्घकाल तक जीओगे। (शेक्सपीयर)

३. प्रसन्न मुख को देखकर बड़े लोग भी खुश होते हैं। (वर्डस्वर्थ)

४. हँसने के समान आरोग्यदायक दूसरा व्यायाम नहीं। (फ्रूफलैंड)

५. बिना हँसी के जीवन तो डरावना है। (थकरे)

६. जब तू हँसेगा तो विश्व भी तेरा साथ देगा। (बिल्काक्स)

७. घर में बच्चों के हँसने-कूदने की ध्वनि पृथ्वी का अत्यन्त मधुर नाद ही है। (अज्ञात)

८. स्वच्छ मन और हास्य देखते ही मालूम हो जाता है कि वह कितना शुद्ध और आनन्दयुक्त है। (विक्टरह्यूगो)

***

अन्धं तमो विशेयुस्ते ये चैवात्महनो जनाः।
भुक्त्वा निरयसाहस्रं ते च स्युर्ग्रामसूकराः।।
आत्मघातो न कर्तव्यस्तस्मात् क्वापि विपश्चिता।
इहापि च परत्रापि न शुभान्यात्मघातिनाम्।।

(स्क० पु० काशीख० १२/१३)

जो लोग आत्म हत्यारे हैं, वे लोग घोर नरकों में जाते हैं और हजारों नरक यातनाएँ भोगकर पुनः देहाती सूअरों की योनि में जन्म लेते हैं। इसलिये समझदार मनुष्य को कभी भूलकर भी आत्महत्या नहीं करनी चाहिये; क्योंकि आत्मघातियों का न इस लोक में और न परलोक में ही कल्याण होता है।

अद्रोहश्चाप्यलोभश्च दमो भूतदया तपः।
ब्रह्मचर्यं तथा सत्यमनुक्रोशः क्षमा धृतिः
सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतद् दुरासदम्।।

(वायु पुराण ५७/११७)

किसी भी प्राणी के साथ द्रोह न करना, लोभ से दूर रहना, इन्द्रियों को वश में रखना, प्राणिमात्र के प्रति दया का भाव रखना, स्वधर्म पालन के लिए कष्ट सहना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, सच बोलना, दुखियों से सहानुभूति रखना, अपराधी को क्षमा कर देना और कष्ट पड़ने पर धैर्य धारण करना–सनातन धर्म की जड़ यही है, जो अन्यत्र दुर्लभ है।

※ ※ ※

यद् क्रोधनो यजति यच्च ददाति नित्यं
यद् वा तपस्तपति यच्च जुहोति तस्य।
प्राप्नोति नैव किमपही फलं हि लोके
मोघं फलं भवति तस्य हि कोपनस्य।।

(वामन पुराण ४३/८९)

क्रोधी मनुष्य जो कुछ भी भजन-पूजन करता है, जो कुछ नित्य प्रति दान करता है, जो कुछ तपश्चर्या करता है और जो कुछ भी हवन करता है, उसका इस लोक में उसे कोई फल नहीं मिलता, उस क्रोधी का सब कुछ किया-कराया व्यर्थ होता है।

※ ※ ※

परस्वानां च हरणं परदाराभिमर्शनम्।
सुहृदामतिशंका च त्रयो दोषाः क्षयावहाः।।

पराये हक छीन लेना, पर स्त्री-संसर्ग और अपने हित-मित्रों से अत्यधिक सशंकित रहना– ये तीन दोष सर्वनाश करने वाले हैं।

※ ※ ※

न तथा शीतलं सलिलं न चन्दनरसो न शीतला छाया।
प्रह्लादयति च पुरुषं यथा मधुरभाषिणी वाणी।।

(भविष्य पुराण ब्राह्मपर्व ७३/४८)

ठंडा जल, चन्दन का रस अथवा ठंडी छाया भी मनुष्य के लिए उतनी आह्लाद जनक नहीं होती, जितनी कि मीठी वाणी।

SIDDHYOG Regd. No. L. AG. 008

अक्टूबर 2000

प्रेषण कार्यालय :

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र

सवाई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER

Book-Post

श्री ....

....

....

अपि मानुषकं लब्ध्वा भवन्ति ज्ञानिनो न ये।
पशुतैव वरं तेषां प्रत्यवायाप्रवर्तनात्।।

धर्म और अधर्म केवल मानव के लिए हैं। इतर जीवों में धर्म-अधर्म की बात नहीं है। मानव होकर भी अपने कर्तव्य-अकर्तव्य का ज्ञान न प्राप्त करे और यथेष्टाचरण करता रहे तो उसका पशु होना ही अच्छा था। क्योंकि पशुजन्म में पाप लगता ही नहीं।

प्रकाशक एवं मुद्रक—विनय गजानन शर्मा द्वारा कर्मयोग प्रिण्टिंग प्रेस, बसई फर्सी, राजगंज, आगरा के लिए राष्ट्रीय ब्लाक एवं प्रिण्टिंग वर्क्स, जौहरी बाजार, आगरा से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र सवाई, (एत्मादपुर) आगरा से प्रकाशित। फोन : 732326